पत्रों द्वारा
करणानुयोग परिचय

डॉ. श्रीमती उज्ज्वला दि. शहा

पत्रों द्वारा
करणानुयोग परिचय

— लेखिका —

डॉ. श्रीमती उज्ज्वला दिनेशचंद्र शहा

एम.बी.बी.एस., डी.सी.एच., डी.जी.पी.

— संपादक —

पं. दिनेशभाई शहा

एम.ए., एल.एल.बी.

— प्रकाशक —

वीतरागवाणीप्रकाशक

१५७/९, निर्मला निवास, सायन (पू.), मुंबई - ४०० ०२२.

फोन : ०२२-२४०७ ३५८१

E-mail: ujwaladinesh@yahoo.com

Website: www.jainsiddhant.org

हिंदी	आठवां संस्करण	१,०००	प्रत
	१२ नवम्बर २०१५		
हिंदी	सात संस्करण	११,०००	प्रत
मराठी	पांच संस्करण	८,५००	प्रत
गुजराती	छह संस्करण	१२,०००	प्रत
	योग	३२,५००	प्रत

– दातार –

चंद्रप्रभु दिगंबर जैन स्वाध्याय मंडळ, नातेपुते	१५,०००
डॉ. सतीश शहा, इंडी	११,०००
सौ. संध्या एवं दिलीप बेलोकर, मुंबई	१०,०००
डॉ. ऊर्जिता चेतनकुमार जैन, मुंबई	५०००
जिनमती शरदकुमार शहा, मुंबई	५०००
स्मृती हर्षद शहा, मुंबई	५०००
ब्र. कुसुम रामगोंडा पाटील, कुंभोज	३५००
श्रीमती मीनाश्री शहा, म्हसरूळ	३५००
डॉ. दर्शना सुधीर जैन, विदिशा	३०३५

– हमारे प्रकाशन –

जैनतत्त्व परिचय	– मराठी, हिन्दी, गुजराती, इंग्लिश	रु. १५
कारण कार्य रहस्य	– मराठी, हिन्दी, गुजराती, इंग्लिश	रु. १५
करणानुयोग परिचय	– मराठी, हिन्दी, गुजराती	रु. १५
पंचलब्धि	– मराठी, हिन्दी, गुजराती	रु. १५
भक्तामरस्तोत्र प्रवचन	– मराठी	रु. १५
स्वानुभव	– मराठी	रु. ६
परमात्मा कसे बनाल !	– मराठी	रु. ६
जैन भूगोल	– हिन्दी, गुजराती	रु. ५०
सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका जीवकाण्ड एवं अर्थसंदृष्टि – हिन्दी		रु. १५०
सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका कर्मकाण्ड एवं अर्थसंदृष्टि – हिन्दी		रु. १५०
सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका लब्धिसार-क्षपणासार एवं अर्थसंदृष्टि –हिन्दी		रु. १००

मूल्य : रु. १५/-

Website: www.jainsiddhant.org

लेखिका का मनोगत

आध्यात्मिक युगपुरुष पूज्य श्री. कानजी स्वामी द्वारा उपदेशित जिनागम एवं उद्घाटित परम अध्यात्म का रहस्य और मर्म पाकर किये हुअे जैन तत्त्वज्ञान के अध्ययन से मेरा जीवन ही आमूलाग्र परिवर्तित हो गया । यथार्थ में इस जीव का जीवन शुरू हो गया। जीव का 'जीवत्व' समझ में आ गया । सन १९९२ में मैं और मेरे पति श्री. दिनेशचंद्र शहा दोनों ने अपने अपने व्यवसायों से निवृत्ति ले ली और अत्यंत जोशपूर्वक स्वाध्याय करना प्रारंभ किया । प्रति दिन ८-८॥ घंटे हमारा दोनों का एकसाथ स्वाध्याय होने लगा । प्रथमानुयोग, चरणानुयोग, द्रव्यानुयोग के अनेकों ग्रंथों का बारम्बार अध्ययन हुआ परंतु करणानुयोग की विशेष पहचान नहीं थी, उसका वाचन नहीं था ।

ब्र. पं. श्री यशपालजी जैन से हमने 'गुणस्थान प्रवेशिका' का अध्ययन करने के पश्चात् गुणस्थानसंबंधी थोडा बहुत ज्ञान हुआ और करणानुयोगसंबंधी रुचि उत्पन्न हुअी । उसके बाद पं. टोडरमलजीकृत 'सम्यग्ज्ञानचंद्रिका' पढ़ने की इच्छा हुअी । हम दोनों ने पढ़ना प्रारंभ किया परंतु प्रारंभ के २५-३० पृष्ठ पढ़ने पर दिनेशजी कहने लगे कि, 'यह अपने बस की बात नहीं है । हम अपने अध्यात्म ग्रंथ ही पढ़ेंगे, नहीं तो भी, वे ही आखिर कार्यकारी हैं ।' परंतु क्या स्त्रीहठ के सामने किसीका कुछ चला है? परंतु मेरा यह हठ सार्थक ही सावित हुआ । हम दोनों ने सन १९९३ में उस ग्रंथ का आद्योपान्त स्वाध्याय किया ।

उस दौरान 'जैनतत्त्व परिचय' पुस्तक मराठी में और पश्चात् हिंदी में लिखी गयी और हम दोनों ने प्रकाशित की । उसके साथ साथ उनके द्वारा अनुवादित अन्य तीन पुस्तकें - 'भक्तामर प्रवचन', 'स्वानुभव', 'परमात्मा कैसे बनोगे !' भी प्रकाशित किये गये । ये सारी पुस्तकें तथा तीन भाषाओं में जैनतत्त्व परिचय इन सब की प्रूफरीडिंग सहित छपाई की पूरी जिम्मेदारी हम दोनों ने ही सम्भाली । ४-६ महिने तो इसी में चले गये । हमारा व्यक्तिगत स्वाध्याय कम हुआ परंतु अन्य अनेक लोगों के आग्रह के कारण मैं सुबह डेढ़ घण्टा एवं श्री दिनेशजी शाम को तीन घण्टे हररोज सामूहिक स्वाध्याय लेने लगे । जो लगातार गये ५ साल से आज तक चल रहा है ।

जचकी और उसके पश्चात् की उलझन और झंझट अनुभवने के बाद स्त्री मन ही मन में ठान लेती है कि 'बस अब दुबारा नहीं' हमारा भी ऐसा ही हुआ । पुस्तक लिखना, प्रकाशित करना और लोगों तक पहुंचाना इन सब में से पार होते होते अब दुबारा यह झंझट मोल नहीं लेंगे, ऐसा निश्चय किया था । परंतु उस पुस्तक की लोकप्रियता, अनेक नये और पुराने अध्ययनशील व्यक्तियों से प्राप्त प्रतिसाद, लोगों ने अनेक बार और कुछ लिखनेसंबंधी किया हुआ सस्नेह आग्रह इन सब का सविनय स्वीकार करते हुअे लिखने का निश्चय किया और मन में सदैव चलनेवाला चिंतन कलमद्वारा अवतरित होने लगा।

स्वयं पढ़ने की अपेक्षा अन्य जिज्ञासुओं को पढ़ाने में विषय की गहराई एवं सूक्ष्मता (बारीकीयाँ) अधिक स्पष्ट होती हैं । इसप्रकार ग्रंथ ही मेरे गुरु सिद्ध हुअे । पं. टोडरमलजी ने सब

कुछ इतना सरल करके समझाया है कि उसे समझाने और समझने में हमें अनोखा आनंद प्राप्त हुआ ।

रोज मैं जो विषय पढ़ाती थी उसे मैंने अनेक जगह प्रवचनों में भी सिखाया था । तब सर्वत्र लोगों का प्रचंड प्रतिसाद एवं विषय समझने संबंधी उनकी उत्कट उत्कंठता और अभिलाषा देखकर इसी विषय पर लिखने का मैंने निश्चित किया । इस विषय को मुष्किल से कोई हाथ लगाता है, सीखता या सिखाता है इसलिए लोगों का कहना था कि, 'इस गहन विषय को आप इतनी सरल और आसान भाषा में समझाती हो, तो जरूर इस विषय पर पुस्तक लिखना' । इसलिए इस विषय पर पुस्तक लिखने का साहस मैंने किया है ।

करणानुयोग संबंधी लेख मैंने सर्वप्रथम दिल्ली के पं. श्री. प्रकाशचंद हितैषीजी की 'सन्मति सन्देश' पत्रिका में 'चिरकाल पुरानी, सुनो अपनी कहानी' नाम से लिखना प्रारंभ किया था । मराठी वाचकों के आग्रह के कारण उसे दुबारा सुचारू रूपसे लिखकर सर्वप्रथम मराठी में पुस्तक लिखना प्रारंभ किया और दो महिनों में पूर्ण किया । उसके पश्चात् उसी को हिंदी में लिख दिया । पुस्तक लिखना भी स्वाध्याय का ही अंग है । बीस प्ररूपणासंबंधी मेरा भी बारम्बार पढ़ना हुआ - मेरा ज्ञान भी पक्का हुआ । भेदविज्ञान को बल मिला । कर्म-नोकर्म का स्वरूप स्पष्ट रूपसे भासित होने के कारण मेरी श्रध्दा में दृढ़ता आती रही।

प्रस्तुत पुस्तक में जगह जगह पर मैंने स्वयं को तथा बेटीयों को 'हे जीव' कहकर संबोधित किया है । बेटीयों की तरफ भी मैं 'जीव' की दृष्टि से देखती हूँ और उसी दृष्टि से उन्हें उपदेश दिया हुआ है ।

प्रस्तुत पुस्तक में मात्र करणानुयोग का ही विषय नहीं है, अपितु साथ साथ द्रव्यानुयोग की अपेक्षा से उस पर विचार किया है, चिंतन किया है, आत्मानुभव की प्रेरणा दी है । करणानुयोग पढ़कर स्वसन्मुखता कैसे करनी? यह सब पढ़कर हमें क्या लाभ होगा? इसकी पढ़ाई कितनी जरूरी है इन सब बातों की चर्चा इस पुस्तक में की है ।

करणानुयोग का विषय गहन तो है, परंतु मन को आकर्षित एवं स्तंभित करनेवाला यह विषय वाचकों के सामने सरल भाषा में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है । लिखने में कोई भूल न रह जायें इसलिए बारम्बार सम्यग्ज्ञानचंद्रिका का आधार लिया है । फिर भी कोई त्रुटी रह गयी हो तो अवश्य बतायें ऐसा मैं वाचकों से अनुरोध करती हूँ ।

हिंदी तो मेरी मातृभाषा है नहीं, ना हि साहित्य से मेरा कोई परिचय है । फिर भी मलम के बजाय कलम हाथ में लेने का दुस्साहस मैंने किया है । अपनी माँ जिनवाणी से प्राप्त यह अनमोल खज़ाना हर एक जीव को प्राप्त हो ऐसी सदिच्छा व्यक्त करती हूँ ।

यह 'करणानुयोग परिचय' वाचकों को करणानुयोग के अध्ययन हेतु एवं आत्मानुभव के हेतु प्रेरणादायी बने, इसी सद्भावना के साथ -

- डॉ. श्रीमती उज्ज्वला दि. शहा.

संपादकीय

किसी अज्ञात और अनजान प्रांत में प्रवेश करना हो या वहाँ जाना हो तो मन में अनेक प्रश्न उठ खड़े होते हैं । वैसे ही करणानुयोग आगम का अभ्यास शुरू करने के पहले मेरी हालत हुअी।

यह गूढ़ और गहन विषय क्या अपनी समझ में आयेगा? इसमें वर्णित सूक्ष्मता का अध्ययन करके क्या साध्य होनेवाला है? ऐसे एक नहीं अनेक आशंकाओं का मेरे मस्तिष्क में तूफ़ान मचा। मैं स्वयं को सख्त या दृढ (अड़ीग) स्वभाव का मानता था लेकिन मैं भी शुरू में विचलित हुआ ऐसा लगा कि बिना वज़ह ही इसमें घुसने का मैंने प्रयत्न किया । लेकिन मार्गदर्शक (गाईड) सही हो तो फिर ड़रने का कोई प्रयोजन ही नहीं रहता । इसलिये धर्मपत्नि श्रीमति उज्ज्वला के आग्रह से उसके साथ इस विषय में प्रवेश करने का साहस किया ।

समझ में आये या न आये तो भी गोम्मटसार पर लिखी पं. टोडरमलजी की टीका सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका - जीवकाण्ड पढ़नेका निश्चय किया और वह शास्त्र आद्योपान्त पढ़ा । उस वक्त जो कुछ समझा हो वह तो समझा, लेकिन जब भी कोई कार्य हाथ में लिया हो तो उसे पूरा किये बिना चैन नहीं पडती - इस स्वभावानुसार पूरा शास्त्र पढने में सफल हुआ और कोलंबस को अमेरिका खोजने में और नील आर्मस्ट्रॉंग को चंद्रमा पर पहुचने से जो आनंद प्राप्त हुआ होगा उससे भी अधिक आनंद मुझे हुआ ।

हमारे घर पर प्रतिदिन सामूहिक स्वाध्याय तो होता ही था । हमारे सहस्वाध्यायी चेंबूर के श्री. अरविन्दभाई दोशी श्रीमति उज्ज्वला को आग्रह भरा अनुरोध करने लगे कि आप हमें यह शास्त्र पढायें । और फिर क्या हम ८-१० लोगों ने पुनश्च उसका स्वाध्याय किया । उसने सभी से शास्त्र में आये हुअे गणित व बारीकीयाँ स्लैट पर लिखवा कर बहोत मेहनत लेकर समझाया। इसलिये उस विषय की सूक्ष्मता ख्याल में आयी ।

अनेक जीवों का ऐसा मत है कि करणानुयोग के अभ्यास से समय का अपव्यय होता है। जितने प्रमाण में बुद्धि का व्यायाम होता है उतने प्रमाण में हाथ कुछ नहीं लगता । उससे तो द्रव्यानुयोग के अभ्यास से त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा का चिंतन-मनन करके उसे साध्य करने का प्रयत्न करना अच्छा है । वास्तव में यह कहना भी गलत नहीं है परंतु अगर सही सही ऐसा प्रयत्न होता हो तो इससे और बढ़िया बात क्या हो सकती है? कुछ तो भी बहाना बताकर यह जीव अपना उपयोग 'स्व' तरफ न लगाकर अन्य बातों में उलझाता रहता है तो उसे करणानुयोग का अभ्यास करना ही श्रेयस्कर है ।

करणानुयोग का अभ्यास करने से उपयोग की सूक्ष्मता होती है । बुद्धि पैनी होती है । सर्वज्ञ के ज्ञान की झलक बहुत नज़दिक से देखने को मिलती है और उसी वक्त मैं भी सर्वज्ञ भगवान जैसा सर्वज्ञ स्वभावी हूँ, ऐसा ख्याल में आये बिना नहीं रहता !

और खास करके जो हम द्रव्यानुयोग में सिद्धान्त सीखते हैं वे इस विषय के अभ्यास से अधिक प्रभावपूर्वक मन में अंकित होते हैं और सर्वज्ञ ने कहे हुअे सिद्धान्तों की श्रद्धा और भी दृढ हो जाती है । सर्वज्ञ की महिमा बढ़ जाती है । वैसे देखा जाय तो चारों ही अनुयागों का तात्पर्य वीतरागता ही है इसलिये उसमें श्रेष्ठ-कनिष्ठ का भेद करना योग्य-उचित नहीं है ।

इसतरह चित्तवेधक विषय की पहचान होने से इसे अनेक जगह प्रवचन में श्रीमति उज्ज्वला ने लोगों के सामने प्रस्तुत करने से लोगों ने उससे बहुत आग्रह किया कि आप यह विषय बहुत ही सरल और सुगम भाषा में समझाती हैं तो क्यों न आप 'पत्रोंद्वारा जैनतत्त्व परिचय' के समान इस विषय पर भी किताब छपवाते? कृपया आप इस विषय पर लिखें । इस कारण यह किताब छपवाने का हमने निश्चय किया ।

इस पुस्तक की मांग दिन-प्रतिदिन बढ़ती ही जा रही है । हिन्दी, मराठी और गुजराती के अनेक संस्करण छप चुके हैं तथा नये संस्करण छपते रहते हैं।

– पं. दिनेशभाई शहा

Visual DVDs (each DVD contains 3 to 5 hrs lectures)

जैन सिद्धांत : शिबिर १ और २	16 DVDs
गुणस्थान : शिबिर	10 DVDs
सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका जीवकाण्ड : शिबिर १ और २	16 DVDs
सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका जीवकाण्ड अर्थसंदृष्टि	18 DVDs
सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका कर्मकाण्ड : शिबिर १ और २	20 DVDs
सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका कर्मकाण्ड अर्थसंदृष्टि	13 DVDs
सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका लब्धिसार-क्षपणासार : शिबिर १ और २	22 DVDs
सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका लब्धिसार-क्षपणासार अर्थसंदृष्टि	16 DVDs
पंचपरावर्तन शिबिर	12 DVDs
क्रमबद्धपर्याय	3 DVDs
आत्मा की ४७ शक्तियाँ	3 DVDs
सम्यग्दर्शन : शिबिर	10 DVDs
ज्ञानमार्गणा - लेश्यामार्गणा : शिबिर	10 DVDs
सम्यक्त्वमार्गणा - योग मार्गणा : शिबिर	10 DVDs

MP3 सीडीज् (128 KBPS)(प्रत्येक सी.डी. में १२ घण्टों के प्रवचन हैं)

– पं. दिनेशभाई शहा –

लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	७	समयसार	७५
बालबोध पाठमाला	४	प्रवचनसार	५०
वीतराग विज्ञान पाठमाला	५	नियमसार	३६
तत्त्वज्ञान पाठमाला	५	अष्टपाहुड	२५
गुणस्थान विवेचन	५	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	१९
कारण कार्य रहस्य	१	आत्मसिद्धि	१२
छहढाला	४	नाटक समयसार	२१
बृहद् द्रव्यसंग्रह	८	योगसार	५
रत्नकरंड श्रावकाचार	१३	तत्त्वार्थसूत्र	१८
मोक्षमार्ग प्रकाशक	२३	पुरुषार्थसिद्धिउपाय	६
अनुभवप्रकाश	८	परमात्म प्रकाश	२३
इष्टोपदेश	५	कलशामृत	४९

– डॉ. उज्ज्वला शहा –

सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका जीवकाण्ड	२५	षट्स्थानपतित हानि वृद्धि	१
सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका कर्मकाण्ड	२१	संख्यामान	१
लब्धिसार-क्षपणासार	११	सात तत्त्व	१
धवला (पु.१ से १६)	१०२	योग	१
जयधवला (पु. १ से १६)	११७	जैन भूगोल VCD	२०
महाधवला (पु. १ से ७)	१०५	भावदीपिका	७
क्रमबद्धपर्याय	४	अनगार धर्मामृत	१२
करणानुयोग परिचय	३	सागार धर्मामृत	५
निमित्त उपादान + पंचपरावर्तन	२	डेढगुणहानिगुणित समयप्रबद्ध	१
पंचलब्धि	२	पंचाध्यायी	२०
पांच भाव	१	त्रिलोकसार	१७
पांच भाव (तत्त्वार्थसूत्र)	२	आत्मभावना + समाधितंत्र	१०
कारण कार्य रहस्य	२	सुख यहाँ	१४
प्रमाद के भेद	१	आत्मानुशासन (अपूर्ण)	१०

अनुक्रमणिका

पत्रांक	विषय	पृष्ठ
1.	कर्म बंध	1
2.	घाति-अघाति कर्म	10
3.	कर्म-स्थिति, आबाधाकाल और उदयकाल	19
4.	नोकर्म - बंध, स्थिति, उदय	30
5.	कर्म - नोकर्म निषेकरचना	40
6.	जीव और कर्म की स्वतंत्रता	49
7.	कर्म - उपशम, उदीरणा	58
8.	कर्म की शेष अवस्थायें	67
9.	गुणस्थानादि जानने का प्रयोजन	74
10.	गुणस्थान - सामान्य चर्चा (सम्यक्त्व प्राप्ति की पात्रता, प्रक्रिया एवं स्वरूप)	79
11.	गुणस्थान आरोहण - देशविरत गुणस्थान	88
12.	मुनि के गुणस्थान	95
13.	गुणस्थान - विभाजन, गमनागमन व काल	103
14.	जीवसमास	118
15.	पर्याप्ति प्ररूपणा	127
16.	प्राणप्ररूपणा	133
17.	संज्ञा-प्ररूपणा - गति, इंद्रिय, काय-मार्गणा	138
18.	योग, वेद, कषाय, ज्ञान और संयम - मार्गणा	148
19.	दर्शन, लेश्या, भव्य, सम्यक्त्व, संज्ञी, आहार-मार्गणा और उपयोग प्ररूपणा	154

कर्म-बंध

पत्रांक 1 ॥ ॐ नमः सिध्देभ्यः ॥ 23 जुलाई 1999

डॉ. श्रीमती उज्ज्वला दि. शहा,
157/9 निर्मला निवास,
सायन (पूर्व), मुंबई - 400 022.
फोन - 407 35 81

प्रिय रीना एवं मोना,

अनेक उत्तम शुभाशीर्वाद

'पत्रों द्वारा जैनतत्त्व परिचय' नामक पत्ररूप स्वाध्याय के पश्चात् बहुत काल बीत चुका। इस बीच तुम दोनों 'माता' बन चुकी हो। बच्चों के लालन पालन में और अन्य जिम्मेदारियों तथा गतिविधियों में व्यस्त होते हुए भी तुम्हारी स्वाध्याय की रुचि कायम है यह देखकर मुझे खुशी हुअी। अब मात्र स्वयं अध्ययन करने से काम नहीं चलेगा, अपितु बच्चों पर संस्कार डालने की जिम्मेदारी भी तुम्हारी ही है।

बहुत पहले मैंने तुम्हें पत्र में लिखा था कि 'कर्म और गुणस्थान' विषय पर मैं तुम्हें भविष्य में समझाऊंगी। अब मुझे बार बार विचार आ रहा है कि कर्म, गुणस्थान, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा, मार्गणा आदि विषयों पर मैं तुम्हें कुछ समझाऊं। सच कहूँ तो करणानुयोग का यह विषय बहुत गम्भीर एवं गहन है फिर भी उसके पढ़ने में बहुत आनंद आता है। द्रव्यानुयोगसंबंधी हमने जो अध्ययन किया है उसमें तथा भेदज्ञान करने में करणानुयोग के अध्ययन से अधिक बल मिलता है, अनेक भ्रांतियां दूर होती हैं।

आज से मैं 'अपनी कहानी' सुनाने जा रही हूँ। यह कहानी है मेरी, तुम्हारी, इसकी, उसकी - अपने को भूले हुअे सभी जीवों की ! जीव तो अनादि से जीव ही था, है और रहेगा, परंतु भूल से इस जीव ने शरीर को ही जीव याने 'मैं' ऐसा मान लिया और इसकी कहानी बन गयी। आज से यह कर्मकहानी अर्थात् कर्म बंधन की कथा हम सुनेंगे।

आचार्यों ने हमें छह द्रव्य, सात तत्त्व, निमित्त, रागादि विकार, कर्म, गुणस्थान, मार्गणास्थान आदि अनेक विषयों का स्वरूप बताया है। उसीका

ज्ञान हम करने जा रहे हैं। यह सारा निमित्त और संयोगों का ज्ञान करने का प्रारंभ हम कर रहे हैं, परंतु एक बात का ध्यान रखना कि अपने ध्रुव स्वभाव की दृष्टि कायम रखकर यह अभ्यास करना है। सात तत्त्वों का स्वरूप पुनः एकबार विस्तार से जानकर, उस पर बारंबार चिंतन, मनन करने के पश्चात् इस विषय का ज्ञान करने से हमें भेदज्ञान करने में बहुत मदद मिलेगी।

आज से मैं तुम्हें यह बंधन की कथा तो सुनाऊंगी, परंतु दृष्टि अपने अभेद ध्रुव-स्वभाव पर रखकर सुनो। तुम्हें याद होगा कि बचपन में जब तुम दोनों कोई भयकथा - ड़रावनी कहानी सुना करती थी तब मेरा हाथ पकड़ कर बैठती थी। उसीतरह अब 'मैं जीवतत्त्व हूँ' ऐसा अपना स्वरूप निश्चित करने के पश्चात् ही इस कहानी का प्रारंभ करेंगे।

पत्र के प्रारंभ में हमने सिध्दों को नमस्कार किया है। सिध्द भगवान द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म से रहित हैं। इन तीन प्रकार के कर्मों का स्वरूप ही हमें पता न हो तो कर्मविरहित सिध्दों का स्वरूप तथा सिध्दसमान अपने शुध्दात्मा का स्वरूप हमारे ख्याल में नहीं आ सकता।

सरल शब्दों में कहना हो तो कार्माणवर्गणा नाम के पुद्गल स्कंधों से बना हुआ द्रव्यकर्म है, जीव के मोह, राग, द्वेष परिणाम भावकर्म हैं और शरीर, मन, वाणी आदि जीव के नोकर्म हैं। प्रस्तुत प्रकरण में जहाँ जहाँ कर्म शब्द आयेगा, वहाँ द्रव्यकर्म के बारे में यह चर्चा है ऐसा तुम समझ लेना।

जीव और कर्म अनादि से ही एक दूसरे से बंधी हुअी अवस्था में पाये जाते हैं अर्थात् जीव और कर्म का बंध अनादि से है। किसी ने जोर जबरदस्ती से यह बंध कराया नहीं है। ऐसा भी नहीं है कि जीव पहले सिध्द समान शुध्द था और बाद में कर्म आकर उससे बंधे हो। जैसे, खदान में सुवर्णपाषाण पाया जाता है वहाँ किसी ने सोना और पत्थर का मिश्रण-मिलान तो किया नहीं, अनादि से ही उनकी संयुक्त अवस्था पायी जाती है। उसीतरह जीव और कर्म भी अनादि से बंधे हुअे हैं।

प्रत्येक जीव से अनंतानंत कर्म परमाणु बंधे हुअे हैं। इनमें जीवद्रव्य तो एक है, अरूपी है, चेतना गुणमय है, संकोच विस्तार शक्ति से युक्त असंख्यात प्रदेशी है और कर्मपिंड जो है वह तो अनंतानंत परमाणुओं का समूह है, रूपी है, अचेतन है। कर्म में जानने की शक्ति-ज्ञान नहीं है। इस

कर्म पिंड में से प्रत्येक समय में कुछ परमाणु छूटकर निकल जाते हैं उसीतरह प्रत्येक समय में कुछ नये परमाणु आकर उसमें जुड़ जाते हैं। परमाणु आकर पुराने कर्म के साथ जुड़ जाते हैं - बंधते हैं उसे 'बंध'- कहते हैं और परमाणु छूटकर निकल जाते हैं उन्हें 'उदय' कहते हैं।

बंध के चार भेद हैं - (1) प्रदेशबंध (2) प्रकृतिबंध (3) स्थितिबंध (4) अनुभागबंध। जब कर्म का बंध होता है तब विवक्षित संख्या में परमाणु आते हैं और जीव के साथ बंधते हैं, उस संख्या को 'प्रदेशबंध' कहते हैं। यह संख्या अनंत है। निरंतर - प्रत्येक समय में अनंत कर्म परमाणु बंधते हैं। एक समय में जितने परमाणु बंधते हैं उन्हें 'समयप्रबध्द' यानि 'एक समय में बंधे हुअे' कहते हैं। उतने ही परमाणु अर्थात् एक समयप्रबध्द प्रमाण परमाणु हर समय छूटकर निकल जाते हैं - उनका कर्मपना नष्ट होकर वे अकर्म दशा को प्राप्त होते हैं।

अब प्रकृतिबंध का स्वरूप देखेंगे। प्रकृति स्वभाव को कहते हैं। अनंत कर्म परमाणु आकर पुराने कर्मपिंड के साथ बंधते हैं, उस समय उनका आठ भिन्न भिन्न प्रकारों में विभाजन होता है। कर्म के ये आठ भेद होते हैं उसे 'प्रकृतिबंध' कहते हैं। कर्म के अपने स्वभाव के कारण यानि कर्म क्या फल देते हैं उसके कारण उनके आठ भेद होते हैं। इन्हें 'मूलप्रकृति' कहते हैं।

मूलप्रकृतियों के नाम हैं - (1) ज्ञानावरण (2) दर्शनावरण (3) मोहनीय (4) अंतराय (5) वेदनीय (6) आयु (7) नाम (8) गोत्र।

इन मूलप्रकृतियों के और भी भेद किये जाते हैं उन्हें 'उत्तरप्रकृति' कहते हैं।

कर्म जब बंधते हैं उसी समय यह निश्चित होता है कि वे जीव के साथ कितने काल तक रहेंगे, उस काल को कर्म की स्थिति कहते हैं और बंध के इस भेद को 'स्थितिबंध' कहते हैं। अपनी अपनी स्थिति पूरी होने पर कर्म छूट जाते हैं - खिर जाते हैं, उसे उदय कहते हैं। कर्म का उदय होता है तब उस कर्म का 'फल' यानि 'अनुभाग' या 'रस' जीव को मिलता है। यह अनुभाग भी कर्म बंधते हैं उसी समय निश्चित होता है उसे 'अनुभागबंध' कहते हैं।

तुम पूछोगी कि, `स्थिति और अनुभाग को कौन निश्चित करता है ? कर्म तो अचेतन है उसे कैसे पता चलता है कि कितना और क्या फल देना है ? कर्म का आठ मूलप्रकृतियों में कौन विभाजन करता है ? कर्मों की संख्या यानि प्रदेशबंध कौन नक्की करता है ?'

सुनो, कर्म के स्थिति और अनुभाग बंधते हैं उनमें जीव के मोह, राग, द्वेष परिणाम निमित्त हैं। मोह अर्थात् मिथ्यात्व और रागद्वेष अर्थात् कषाय। मिथ्यात्व और कषाय इन दोनों को मिलाकर कषाय कह दिया जाता है। इसलिए शास्त्र में कथन आता है कि कषाय के कारण (निमित्त से) कर्म की स्थिति और अनुभाग बंधते हैं। शास्त्र के इस कथन का गलत अर्थ निकाल कर `देखो, मात्र कषाय से ही बंध होता है, मिथ्यात्व बंध में अकिंचित्कर है' कहने का दुस्साहस तुम नहीं करोगी इस बात का मुझे विश्वास है।

अब प्रश्न है प्रदेशबंध और प्रकृतिबंध का, इन्हें कौन विभाजित करता होगा और इनकी संख्या कैसे निश्चित होती होगी ? हम आज तक हर समय अनंत परमाणु बांधते आये हैं परंतु हमें तो उसका पता ही नहीं था। कर्म को बांधने और छुड़ानेवाला कोई ईश्वर या परद्रव्य हो नहीं सकता इस बात को भी हम विश्वास के साथ कह सकते हैं क्योंकि एक द्रव्य अन्य द्रव्य का कुछ भी कर नहीं सकता।

कर्म स्वयं ही इन आठ प्रकृतिरूप विभाजित होता है। उसका अन्य कोई भी कर्ता नहीं है। जिसतरह हम भोजन ग्रहण करते हैं तब उस अन्न का रूपांतर खून, हड्डी, चरबी, स्नायु, विष्टा, आदिरूप होता है उसका कर्ता अन्य कोई भी नहीं है, उसीतरह कर्म स्वयं ही मूलप्रकृति एवं उत्तरप्रकृतिरूप विभाजित होता है। कर्म परमाणुओं की संख्या यानि प्रदेश भी उसके अपने कारण से ही बंधते हैं। इन प्रदेशबंध और प्रकृतिबंध में जीव का `योग' निमित्त है।

इसलिए पहले योग क्या है जानना जरूरी है। हमारी लौकिक भाषा में योग शब्द का भिन्न अर्थों में प्रयोग होता है। जैसे, आज धन का योग है, देखो तो कैसा योगायोग है, योगाभ्यास के कारण हमारा स्वास्थ्य अच्छा है, विशिष्ट व्यक्ति बहुत बड़ा योगी है, बीमा कंपनी भी कहती है `योगक्षेमं वहाम्यहं' यानि आपके योगक्षेम का हम निर्वाह करेंगे। इनमें से कोई भी योग यहाँ अभिप्रेत नहीं हैं। जीव के प्रदेशों का अर्थात् आत्मप्रदेशों का कंपन

होना - प्रदेशों का सकंप होना - परिस्पंदन होना - चंचल होना `योग' कहलाता है। प्रदेशों के कंपन को `द्रव्ययोग' कहते हैं। इस द्रव्ययोग के कारण जीव में कर्मों को आकर्षित करने की शक्ति उत्पन्न होती है उसे `भावयोग' कहते हैं। जिसतरह चुंबक पाषाण में लोहे को आकर्षित करने की शक्ति पायी जाती है उसीतरह आत्मप्रदेशों के कंपन के कारण जीव में कर्मों को आकर्षित करने की शक्ति पायी जाती है उसे योग कहते हैं।

अब तुम्हारे ख्याल में आया होगा कि बंध के चार भेदों में से प्रदेशबंध और प्रकृतिबंध होने में योग निमित्त है और स्थितिबंध, अनुभागबंध होने में कषाय (मिथ्यात्व, राग, द्वेष) निमित्त हैं। इन चार बंधों में से प्रकृति, प्रदेश या स्थिति में से कुछ भी जीव के सुख-दुःख का कारण नहीं है। कर्म का जो अनुभाग अर्थात् फल है उसमें यदि जीव जुड़ता है और पुनश्च मोह, राग, द्वेष करता है तो वह दुःखी होता है और उससे नया कर्मबंध भी होता है।

देखो, जरा ध्यान से सुनो। जीव जो दुःखी है वह स्वयं के मोह, राग, द्वेष परिणामों के कारण दुःखी है। कर्म जीव को सुखी दुःखी नहीं करता क्योंकि कर्म तो परद्रव्य है, अचेतन है। बेटीयों, अपने जीवन में हर्ष शोक के अनेक प्रसंग आते हैं उस समय हम किसी विशिष्ट व्यक्ति को उस प्रसंग के लिए जिम्मेदार मानते हैं। इसके फलस्वरूप हमारे मन में उस व्यक्ति के संबंध में राग या द्वेष उत्पन्न होते हैं और उस व्यक्ति से हमारे संबंध जुड़ते हैं या टूटते हैं।

ऐसे प्रसंग में जब हमें शास्त्रवचन सुनने से या पढ़ने से पता चलता है कि वह व्यक्ति निमित्त नहीं है, तब हमें सच्चे निमित्त का ज्ञान होता है। अपना ही कर्म खोटा होगा तो दोष किस पर लगायेंगे ? इस बात का ज्ञान होने पर अन्य व्यक्ति को दोषी ठहराने की हमारी आदत कम होने लगती है।

मात्र कौनसा निमित्त है इस बात को जानना निमित्तसंबंधी सच्चा ज्ञान नहीं है, परंतु निमित्त कार्य में कुछ भी नहीं करता ऐसा जानना ही सच्चा ज्ञान है। देखो तो, अज्ञान अवस्था में यह जीव निमित्त का स्वीकार तो करता है परंतु उसे कर्ता मान लेता है। स्वयं तो महंत बनना चाहता है और कर्म ही मुझे रागद्वेष कराते हैं ऐसा मानता है। परंतु कर्म का उदय कैसा भी हो हम उसकी तरफ देखकर वर्तमान में कौनसे परिणाम करते हैं यह पूर्णतः अपने पर निर्भर है। उसमें यदि हम इष्ट अनिष्ट परिणाम करेंगे तो वह हमारा

मिथ्यात्व परिणाम होगा, कर्म हमें जबरन मिथ्यात्वभाव करने के लिए विवश नहीं कर सकते ।

इष्ट अनिष्ट माने हुए पदार्थों को देखकर वर्तमान में हम रागद्वेष, हर्ष-शोक करते हैं, वह हमारा कषायभाव है । कर्म जीव को कषायभाव करने के लिए मजबूर नहीं कर सकते ।

अपने किसी दोष या भूल के लिए जब हम दूसरों को जिम्मेदार ठहराते हैं तो उस दोष को टालने का हम प्रयत्न ही नहीं करेंगे । अपने स्वयं के दोष को दोषरूप में स्वीकार करना ही दोष दूर करने के लिए उठाया हुआ पहला कदम है । हमें अपने को ही समझाना है कि, हे जीव ! वर्तमानकाल में तू जो अच्छा या बुरा फल भोग रहा है वह तेरे पूर्व में किये हुअे कषायों का ही फल है, क्योंकि उन कषायों के निमित्त से ही उस समय बंधे हुअे कर्म में अनुभागबंध हुआ था, स्थितिबंध हुआ था । वह स्थिति पूरी होने के कारण अब वह फल तुझे मिल रहा है । वर्तमानकाल में तू जो राग, द्वेष, मोह कर रहा है उनके कारण वर्तमान में तो तू दुःखी है ही परंतु अभी नया स्थितिबंध और अनुभागबंध करने के कारण भविष्यकालीन दुःख की भी तू स्वयं ही तजबीज कर रहा है - उसके बीज बो रहा है ।'

हमने अभी देखा कि योग के कारण कर्म जीव की ओर आकृष्ट होते हैं - आते हैं - उनका आस्रव होता है, उनकी संख्या निश्चित होती है तथा उनका भिन्न भिन्न प्रकृतियों में विभाजन होता है । परंतु मात्र योग के कारण स्थिति नहीं बंधती और अनुभाग भी नहीं बंधता । गुणस्थानसंबंधी तुम्हारा अभ्यास नहीं है फिर भी एक बात मैं यहाँ बताना चाहती हूँ कि कुल चौदह गुणस्थान हैं उनमें से पहले गुणस्थान से दसवें गुणस्थान तक के जीवों में कषायों का सद्भाव पाया जाता है और ग्यारहवें गुणस्थान से चौदहवें गुणस्थान तक के जीवों में कषायों का पूर्ण अभाव रहता है । पहले गुणस्थान से लेकर तेरहवें सयोगकेवली गुणस्थान तक के जीवों में योग का सद्भाव होता है और चौदहवें अयोगकेवली गुणस्थान में योग का अभाव पाया जाता है ।

इसका अर्थ हुआ कि पहले गुणस्थान से दसवें गुणस्थान तक कषाय और योग दोनों ही पाये जाते हैं । इसलिए वहाँ चारों ही प्रकार का बंध होता है । कर्मों के इस आस्रव को `साम्परायिक आस्रव' कहते हैं क्योंकि साम्पराय

नाम कषाय का है। ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थानों में योग है परंतु कषाय नहीं है। इस कारण वहाँ प्रदेशबंध और प्रकृतिबंध तो होता है परंतु स्थितिबंध और अनुभागबंध नहीं होता। इसलिए कर्म आकर उसी समय में खिर जाते हैं। जिसतरह भींत पर फेकी हुअी सूखी रेत भींत पर चिपकती नहीं है तत्काल गिर जाती है उसीतरह ये कर्म परमाणु जीव के प्रदेशों से चिपकते नहीं है उसी समय खिर जाते हैं और अनुभाग नहीं होने के कारण उनका फल भी नहीं मिलता। आस्रव के इस प्रकार को 'ईर्यापथास्रव' कहते हैं।

चौदहवें गुणस्थान में कषाय तो है ही नहीं, योग का भी अभाव पाया जाता है, आत्मप्रदेशों का कंपन पूर्णतः नष्ट होता है - अकंप अवस्था प्राप्त होती है। इस कारण कर्म का आगमन ही नहीं होता। जहाँ आस्रव ही नहीं है वहाँ बंध का सवाल ही कहाँ पैदा होता है ?

गुणस्थानातीत सिध्द अवस्था में तो जीव पूर्ण शुध्द अवस्था में विराजमान रहता है। उसकी सत्ता में एक भी कर्म नहीं रहता है। जीव पुनश्च न कषाय करता है न योग होता है इसलिए नया कर्म फिर कभी नहीं आता। इस कारण जीव अनंत काल तक निष्कर्म अवस्था में अपनी अनंत शक्तियों की व्यक्त पर्यायों का आस्वाद लेता है यानि अपने अनंत अव्याबाध सुख का भोग करता है।

कर्म का जीव के साथ यह जो बंध होता है उसे 'संश्लेष संबंध' कहते हैं। इस बंध की विशेषता है कि कुछ काल तक यह संबंध बना रहता है, छूट नहीं सकता। अन्य द्रव्यों तथा अन्य पुद्गलों से जीव का ऐसा संबंध नहीं पाया जाता, उनके साथ तो जीव का एकक्षेत्रावगाह संबंध हो सकता है, संश्लेष संबंध नहीं। कर्म के साथ भी जीव का एकक्षेत्रावगाह संबंध होता है परंतु उसमें यह विशेषता है कि जीव एक स्थान से अन्य स्थान में गमन करता है तब कर्म भी उसके साथ बध्द अवस्था में जाता है।

हम गहने पहन कर बाहर घूमने जाते हैं तो गहने भी हमारे साथ जाते हैं परंतु हम उन्हें उतारकर भी जा सकते हैं या उन्हें उतारकर अन्य गहने धारण कर सकते हैं। कर्म के बारे में ऐसा हो नहीं सकता। बंधे हुए कर्म उनकी स्थिति पूर्ण होने तक जीव का साथ नहीं छोडते, जीव भी उन्हें छोडकर अन्यत्र गमन नहीं कर सकता।

तुम कहोगी कि शरीर भी जीव के साथ हमेशा रहता है। हाँ ! परंतु एक भव समाप्त होने पर दूसरे भव में जाते समय यानि मृत्यु होने पर इस शरीर को छोड़कर जीव अन्यत्र गमन करता है। शरीर और जीव भिन्न भिन्न हो जाते हैं। परंतु मृत्यु होने पर जीव कर्म को छोड़कर अन्य भव में गमन नहीं कर सकता। जीव का तैजस और कार्माण शरीर उसके साथ परभव में गमन करता है।

बंध होने पर कर्म जीव के साथ रहते हैं। पुराने कुछ कर्म उदय होकर खिरते रहते हैं और नये कुछ कर्म आकर बंधते रहते हैं। ऐसा कभी नहीं होता कि सभी कर्म अपने आप खिरकर जीव बिना पुरुषार्थ के कर्म विरहित हो गया हो। जीव के साथ कर्म का जो अस्तित्व है उसे कर्म की 'सत्ता' कहते हैं। उस कर्म को 'सत्ता में पड़ा हुआ कर्म' कहते हैं। कर्मबंध होने पर कुछ कर्म करोड़ो, अब्जों, सागरों वर्ष तक सत्ता में पड़े रहते हैं और अपनी अपनी स्थिति पूरी होने पर फल देकर निकल जाते हैं - खिर जाते हैं जिसे उदय कहते हैं।

ध्यान में रहे कि सत्ता में पड़े हुअे कर्म का कुछ भी फल नहीं मिलता। कभी कभी हम देखते हैं कि कुछ लोग भले हैं जो पाप नहीं करते हैं फिर भी उन पर आपत्तियां आती हैं और कुछ लोग पापों में डूबे रहते हैं फिर भी वैभव में और चैन में रहते हैं। उसका कारण यही है कि वर्तमान में जो संयोग प्राप्त होता है - धन वैभव मिलता है वह पूर्व कर्म का फल है और वर्तमान में पाप करके जो कर्म बंधेगा उसका फल भविष्य में प्राप्त होगा।

कर्म की सत्ता कायम रहती है यह बात समझने के लिए एक दृष्टांत देखते हैं। कल्पना करो कि पानी से भरी हुअी बड़ी टंकी है उसमें ऊपर से पांच नलों में से पानी आ रहा है और उसी समय नीचे की ओर लगे हुअे उसी आकार के पांच नलों में से पानी टंकी में से बाहर जा रहा है। अब तुम मुझे बताओ कि वह टंकी कितने दिनों में खाली हो जायेगी ? खाली नहीं होगी ना ? टंकी हमेशा पानी से भरी हुअी रहेगी। उसीतरह निरंतर बंध और उदय होता रहता है और कर्म की सत्ता बनी रहती है।

इस रहस्यमय कर्मकहानी का अगला प्रकरण प्रारंभ करने से पहले आज हमने क्या क्या पढ़ा उसको देखेंगे।

(1) जीव के मोह, राग, द्वेष परिणामों के निमित्त से स्वयं परिणमित कार्माणवर्गणा की विशिष्ट अवस्था को 'कर्म' कहते हैं।

(2) जीव के मोह, राग, द्वेष परिणामों के निमित्त से कार्माण वर्गणाओं का आत्मप्रदेशों के साथ जो विशिष्ट संश्लेष संबंध होता है, उसे 'बंध' कहते हैं।

(3) बंध के चार भेद हैं - प्रकृतिबंध, प्रदेशबंध, स्थितिबंध और अनुभागबंध।

(4) कर्म का अपना अपना स्वभाव होता है और स्वभाव के कारण भिन्न भिन्न प्रकृति कहलाती हैं। कर्मरूप होने योग्य कार्माणवर्गणाओं का ज्ञानावरणादि प्रकृतिरूप परिणमन होना 'प्रकृतिबंध' है।

(5) प्रत्येक समय में जितने पुद्गल परमाणु कर्मरूप परिणमित होकर जीव के साथ बंधते हैं उतने प्रमाण या संख्या को 'प्रदेशबंध' कहते हैं।

(6) कर्मरूप परिणमित हुअे पुद्गल परमाणु जितने काल तक आत्मा के साथ एकक्षेत्रावगाह संबंध से बंधन में रहते हैं उसको 'स्थितिबंध' कहते हैं।

(7) बंधनेवाले कर्म की फलदान शक्ति को 'अनुभागबंध' कहते हैं।

(8) अनेक समयों में बंधे हुअे कर्म जीवप्रदेशों के साथ रहते हैं उसे 'सत्ता' या 'सत्व' कहते हैं।

(9) कर्म की स्थिति पूरी होने पर कर्म के फल देने को 'उदय' कहते हैं।

आज यहीं विराम लेती हूँ।

– तुम्हारी माँ

****

घाति-अघाति कर्म

पत्रांक 2 ॥ ॐ नमः सिध्देभ्यः ॥ 26 जुलाई 1999

प्रिय रीना एवं मोना,

अनेक उत्तम शुभाशीर्वाद ।

पत्ररूप स्वाध्याय का हमने पुनश्च प्रारंभ किया है । तुम्हारे पत्रोत्तर की राह देखे बिना मैं शीघ्रातिशीघ्र पत्र लिखने की कोशिश करूंगी । तुम यथावकाश पत्र लिखना तथा कोई प्रश्न हो तो उन्हें भी बता देना । कर्मसंबंधी प्रस्तुत विषय बहुत ही अद्‌भुत और विस्मयजनक है । यह विषय समझ में आने पर वस्तुस्वरूप का चित्र हमारे अंतःचक्षु के सामने स्पष्टरूप से दिखाई देता है ।

पहले पत्र में हमने बंध और उदय शब्दों का अर्थ देखा था । उसके बारे में अधिक जानकारी आज हम प्राप्त करेंगे । उससे पूर्व आठ कर्मों का स्वरूप हम देखेंगे । उनके नाम तो हमने पहले देखे ही हैं । उनमें से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय ये चार घातिकर्म हैं और वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र ये चार अघातिकर्म हैं । घातिकर्म नाम से पता चलता है कि वे किसी का घात करते हैं । प्रश्न उठता है कि वे किसका घात करते होंगे ? द्रव्य का, गुण का या पर्याय का ?

द्रव्य का तो कोई घात-नाश कर ही नहीं सकता । शास्त्र में लिखा है कि वे जीव के गुणों का घात करते हैं । तुम पूछोगी, 'द्रव्य और गुणों का नित्यतादात्म्य संबंध होने के कारण गुणों का घात होना कैसे संभव है ?' तुम्हारा कहना बिलकुल सही है । अब रही बात पर्याय की । पर्याय का भी नाश नहीं हो सकता क्योंकि पर्याय विरहित द्रव्य नहीं पाया जाता और पर्याय तो एक समय की होती है ।

घात शब्द का अर्थ है जीव और उसके गुणों का जो सामर्थ्य स्वभाव में है उसे पर्याय में प्रकट न होने देना । ज्ञानावरण कर्म का अर्थ है ज्ञान पर आवरण डालनेवाला कर्म । इसे मेघाच्छादित सूर्य का दृष्टांत देकर समझाया जाता है परंतु वह दृष्टांत कुछ अंशो में ही लागू होता है, पूर्णतः नहीं । मेघों

के पीछे सूर्य अपने पूर्ण प्रकाश से विद्यमान है परंतु ज्ञानावरण कर्म के उदय में जीव का पूर्ण ज्ञान पर्याय में प्रकट नहीं रहता। ज्ञान पर्याय में पूर्णतः प्रकट हुआ हो और उस पर ज्ञानावरण कर्म ने आवरण डाला हो ऐसा कभी नहीं होता।

इन चार घातिकर्मों का फल जीव के कुछ गुणों की अवस्था में निमित्त होता है इसलिए उन्हें जीवविपाकी कर्म कहते हैं। इनमें से ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म जीव के ज्ञान और दर्शन गुणों की शक्ति उनकी पर्यायों में व्यक्त होने नहीं देते इसलिए इन्हें आवरण डालनेवाले कर्म कहते हैं। अंतराय कर्म बाधा डालनेवाला - विघ्न उपस्थित करनेवाला कर्म है। जो लोग स्वाध्याय में नहीं आते वे इसी कर्म की आड लेते हैं - बहाना बनाते हैं कि, `अरे, हम तो बहुत आना चाहते थे पर क्या करें ? अंतराय कर्म आड़ा आ गया।' अहो, बहाना बनानेवालों को तो बहाना मिल ही जाता है।

वे लोग सोचते हैं कि स्वाध्याय करनेवालों को शास्त्र के वचन सुनाने से उनका समाधान होगा परंतु वे नहीं जानते कि शास्त्र के वचनों का गलत अर्थ में प्रयोग करने से वे अपने ही (अ)ज्ञान का प्रदर्शन कर रहे हैं। `कर्म का उदय है', `अंतराय कर्म आड़ा आ गया', `निश्चय तो होता रहेगा परंतु व्यवहार तो करना पडता है ना ?' `हम अनेकांतवादी हैं इसलिए यह भी सच्चा और वह भी सच्चा' आदि गलत वाक्यों का प्रयोग कुछ लोग करते हैं।

जीव के दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य में बाधा डालनेवाले कर्म को अंतराय कर्म कहते हैं। जैसे, किसी संस्था को दान देने का भाव हमें हुआ परंतु घर के अन्य व्यक्ति ने उस संस्था के संबंध में संशय व्यक्त किया, इसलिए दान नहीं दिया गया; तब उस व्यक्ति के कारण दान में बाधा आ गयी ऐसा हम सोचते हैं, परंतु सच देखा जाये तो अंतराय कर्म का उदय उसमें निमित्त है। उसीतरह बँक में हमने कुछ डिपॉझिट रख्खा था जो आज मिलनेवाला था परंतु बँकों के हड़ताल के कारण हमें उन पैसों का लाभ नहीं हो रहा है। इसमें लाभान्तराय का उदय निमित्त है।

इसीतरह भोग और उपभोग के बारे में भी समझ लेना। जिस वस्तु का एक ही बार भोग हो सकता है उसे भोग कहते हैं; जैसे भोजन। जिस वस्तु का हम बार बार भोग करते हैं उसे उपभोग कहते हैं; जैसे कपड़े, गहने, घर आदि।

वास्तव में देखा जाये तो ऊपर बताये हुअे दानादि जीव के गुण हैं। जीव अपने आप को पर्याय में शुध्दता प्रकट करनेरूप दान देता है, उसका उसे लाभ होता है, उसे वह भोगता और उपभोगता है। उसमें बाधा ड़ालनेवाला अंतराय कर्म है।

जीव का वीर्य नाम का गुण है और पुरुषार्थ उसकी पर्याय है। स्वभाव की रचना पर्याय में करना उसका कार्य है। जीव का पुरुषार्थ प्रकट नहीं होता तब अंतराय कर्म का उदय पाया जाता है। इसका यह अर्थ मत निकालना कि अंतराय कर्म जीव का पुरुषार्थ नहीं होने देता। जीव स्वयं पुरुषार्थ नहीं करता तब निमित्त पर आरोप आता है कि अंतराय कर्म ने पुरुषार्थ नहीं होने दिया। जहाँ जहाँ निमित्त को कारण कहा जायेगा वहाँ वहाँ यह बात ठीक से ध्यान में रखना कि यहाँ निमित्त की उपस्थिति बतायी जा रही है।

ज्ञान, दर्शन और वीर्य गुणों पर पूर्ण आवरण कभी नहीं पड़ता। कर्मों का कितना भी तीव्र उदय क्यों न हो इन गुणों की पर्यायों में अल्प शक्ति की व्यक्तता तो होती ही है। सूक्ष्मातिसूक्ष्म जीव में भी ज्ञान का अल्प उघाड अवश्य रहेगा, वे कभी ज्ञान, दर्शन, वीर्य आदि से रहित नहीं होंगे।

घातिकर्मो में से मोहनीय कर्म आवरण भी नहीं ड़ालता और बाधा भी नहीं ड़ालता परंतु श्रध्दा और चारित्र गुणों की पर्यायों में विपरीतता या विकार होने में निमित्त होता है। श्रध्दा के विपरीतता को मिथ्यात्व कहते हैं और चारित्र के विकार को राग द्वेष कहते हैं। श्रध्दा की विपरीतता से ज्ञान और चारित्र भी विपरीत होते हैं। इसलिए मिथ्यात्व शब्द में मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान व मिथ्याचारित्र तीनों ही गर्भित हैं। नवीन बंध के कारण का विचार करते समय हम फिर मोहनीय कर्म संबंधी चर्चा करेंगे।

घातिकर्मों को हमने जीवविपाकी कहा था क्योंकि उनका फल सीधा जीव के गुणों में मिलता है। उसीप्रकार अघातिकर्मों को मुख्यतः `पुद्गलविपाकी कर्म' कहते हैं क्योंकि उनका विपाक यानि रस-फल पुद्गलों में अर्थात् बाह्य संयोगों में मिलता है। हमने देखा था कि वेदनीय, आयु, नाम एवं गोत्र चार अघातिकर्म हैं। वेदनीय कर्म की दो उत्तरप्रकृति हैं - सातावेदनीय और असातावेदनीय। सातावेदनीय कर्म के उदय में जीव को अनुकूल संयोग प्राप्त होते हैं और असातावेदनीय कर्म के उदय में प्रतिकूल संयोग प्राप्त होते हैं।

आयु, नाम एवं गोत्र कर्म का शरीर के साथ निमित्तपना है । जन्म से मरण तक के काल को हम आयु कहते हैं । सूक्ष्मता से देखेंगे तो मरण के अनंतर समय में विग्रहगति में ही नवीन आयु का उदय प्रारंभ होता है । देवायु, मनुष्यायु, तिर्यंचायु और नरकायु ऐसी आयु कर्म की चार उत्तर प्रकृति हैं । आयु के दो भेद हैं - एक `भुज्यमान आयु' और दूसरी `बध्यमान आयु' । हम अभी मनुष्यपर्याय में है अर्थात् मनुष्यायु भोग रहे हैं, यह हमारी भुज्यमान आयु है । वर्तमान में जिस आयु कर्म का उदय चल रहा हो उसे भुज्यमान आयु कहते हैं। हमारे इस भव में हम भविष्य के एक भवसंबंधी आयु बांधते हैं उसे बध्यमान आयु कहते हैं ।

नामकर्म की 93 उत्तरप्रकृति हैं । शास्त्र में इसे चित्रकार की उपमा दी है। जिसतरह चित्रकार चित्र विचित्र आकार एवं रंगों की रचना-चित्रण करता है उसीतरह नाम कर्म के उदय में गति, जाति, शरीर, संहनन, संस्थान, शरीर का स्पर्श, रस, गंध, वर्ण आदि शरीरसंबंधी फल मिलता है अर्थात् शरीर की लम्बाई, रंगरूप, हड्डियों की मजबूती, अवयवों की रचना, चाल, स्वर, श्वासोच्छ्वास, यशापयश आदि अनेक बातें होती हैं। इतना ही नहीं `तीर्थंकर प्रकृति' भी नामकर्म का ही भेद है । बालबोध भाग 1 में `तीर्थंकर भगवान' पाठ तुम्हें याद होगा । तीर्थंकरों को तीर्थंकर नाम प्रकृति का उदय होता है जिसके कारण समवशरणादि विभूति उन्हें प्राप्त होती हैं ।

गोत्र कर्म की दो उत्तरप्रकृति हैं - उच्चगोत्र और नीचगोत्र । उनके उदय में उच्च या नीच गोत्र प्राप्त होता है - उच्च या नीच कुल में जन्म होता है।

ये सभी बाह्य संयोग वास्तव में सुख दुःख के कारण नहीं है अपितु जीव के मोह राग द्वेष ही सुखदुःख के कारण हैं । निर्मोही मुनिराज को ऋध्दि या परिषह प्राप्त होने पर सुख-दुःख उत्पन्न नहीं होते । इससे विपरीत, मोही जीव को कुछ कारण मिले या न भी मिले, उसे स्वयं के संकल्पों के कारण सुख दुःख होता ही रहता है ।

इस घाति अघाति कर्मों के उदय में कैसे फल मिलते हैं एवं जीव की कैसी दशा होती है इसका सरल एवं सविस्तार वर्णन पं. टोडरमलजीने मोक्षमार्गप्रकाशक ग्रंथ में दूसरे अध्याय में `कर्मबंधनरूप रोग के निमित्त से होनेवाली जीवकी अवस्था' इस शीर्षक के अंतर्गत किया हुआ है । तुम अवश्य उसे पढ़ो - बार बार पढ़ो । मात्र पत्ररूप स्वाध्याय से कोई फायदा

नहीं है। अब ग्रंथों का अध्ययन भी तुम्हें स्वयं करना होगा।जैसे पहले तुम तुम्हारे बच्चों को - रोहित, रीया, रोहन को अपने हाथों से खिलाती थी परंतु जब से ये बच्चे बड़े होने लगे हैं तब से तुम उन्हें स्वयं भोजन करने की आदत ड़ाल रही हो।

आठ कर्मों में से आयुकर्म को छोड़कर अन्य सात कर्मों का बंध तो निरंतर चलता ही रहता है, आयुकर्म का बंध तो कभी कभी होता है। आयुबंधसंबंधी चर्चा हम बाद में करेंगे। जीव के साथ सत्ता में पड़े हुअे कर्मों में से अपनी अपनी स्थिति पूरी होने पर आठों ही कर्म निरंतर - हर समय उदय में आते रहते हैं।

तुम पूछोगी कि, ``सात या आठ कर्मों का बंध भी निरंतर चालू रहता है और आठों ही कर्मों का उदय भी निरंतर चालू रहता है, तो इसमें से छूटने का कोई मार्ग भी तो होगा या नहीं ? कि बंध और उदय का यह रहट ऐसा ही चालू रहेगा ? पूजाअर्चा, व्रत उपवास करने पर कर्म नष्ट होंगे कि नहीं ? पूजा में तो हम कहते हैं कि `अष्टकर्म विध्वंसनाय धूपं निर्वपामीति स्वाहा' तो फिर इसका अर्थ क्या हुआ ? हमने पहले पाप किया होगा तो अब पुण्य करके उसको बाद करेंगे तब तो कोई कर्म शेष नहीं बचेगा ?''

हां, हां, जरा धीरज रखो। सबसे पहले यह बात ध्यान में ले लो कि पाप और पुण्य कर्मप्रकृति के नाम हैं - विशेषण हैं। पापप्रकृति बंधने में कारणभूत अशुभ भावों को भी पाप कहते हैं, वह कारण में कार्य का आरोप करके किया हुआ उपचार कथन है। उसीप्रकार जिन परिणामों से पुण्यप्रकृति बंधती हैं उन शुभ भावों को उपचार से पुण्य कहते हैं। क्या तुम जानती हो कि कौनसी कर्मप्रकृति पापरूप हैं और कौनसी पुण्यरूप हैं ? चारों घातिकर्म तो पापरूप ही हैं और चार अघातिकर्मों में प्रत्येक के दो दो भेद हैं - पुण्य और पाप। सातावेदनीय, देवायु, मनुष्यायु, शुभनाम, उच्चगोत्र आदि पुण्यप्रकृति हैं और असातावेदनीय, नरकायु, अशुभनाम, नीचगोत्र आदि पापप्रकृति हैं।

हमनें अभी देखा था कि सात या आठ कर्मप्रकृति का बंध निरंतर-हर समय होता है। तुम शुभभाव करो या अशुभभाव करो आठों कर्म बंधते हैं। उनसे बंध ही होता है, बंध से छुटकारा नहीं होता। किसी भी व्यक्ति के शुभभाव करने पर आठ कर्मों का बंध होता है उनमें से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय ये चार घातिकर्म तो पापरूप ही हैं और अघाति कर्म

के पुण्य और पाप प्रकृति में से उसे पुण्य प्रकृति का बंध होता है। अर्थात् शुभभाव यानि पुण्य करने पर पुण्य और पाप दोनों का बंध होता है। किसी भी व्यक्ति के अशुभभाव यानि पाप करने पर उसे चार घातिकर्म जो पापप्रकृति हैं और चार अघातिकर्म में से पाप प्रकृति का बंध होता है।

इसका तात्पर्य यह है कि पुण्य करने पर पुण्य और पाप प्रकृति का बंध होता है और पाप करने पर पाप और पाप प्रकृति का बंध होता है। इसी कारण शास्त्र में कथन आता है कि, `पाप को पाप तो सारी दुनिया कहती है परंतु पुण्य भी पाप है यह बात कोई विरले पुरुष ही जानते हैं।' जो जीव को बंधन में ड़ाले वह पवित्र कैसे हो सकता है ? वह हितकर कैसे हो सकता है ? इस बात को सुनकर तुम यह मत कहना कि, `चलो, अच्छा हो गया, अब हमें पुण्य करने की कोई जरूरत ही नहीं रही, हम उसे छोड़ देंगे।'

देखो बेटी, शास्त्र में तो उपदेश ऊपर चढ़ने के लिए होता है, जीवों के अपने कल्याण के लिए होता है। पुण्य छोड दोगी तो क्या पाप करके नरक-निगोद में जाने की इच्छा है ? पुण्य छोडने योग्य, हेय है ऐसी मान्यता करनी है, अभिप्राय में लेना है। ऐसे यथार्थ अभिप्राय के साथ पुण्य और पाप दोनों को छोड़कर शुध्दात्मा में लीन होना है, शुभोपयोग और अशुभोपयोग छोडकर शुध्दोपयोग प्रकट करना है इसप्रकार का यथार्थ अर्थ ग्रहण करना चाहिए।

अब प्रश्न उठता है कि आठों ही कर्मों का उदय निरंतर होता है और जीव को उसका फल मिलता है परंतु नवीन बंध क्यों होता है ? क्या आठों ही कर्मों का उदय नवीन बंध में कारण है? हमने देखा था कि आठ कर्मों के उदय में क्या क्या फल मिलते हैं।

कर्म का उदय

(1) ज्ञान की हीनता	(1) संयोगों की अनुकूलता या प्रतिकूलता
(2) दर्शन की हीनता	(2) आयु
(3) श्रध्दा और चारित्र की विपरीतता	(3) शरीरादि की रचना
(4) दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य में बाधा	(4) उच्च या नीच गोत्र

इन आठ बातों में से कौनसी बातें नवीन कर्मबंध में कारण हैं उसका विचार करेंगे। ज्ञान, दर्शन, वीर्य तो जीव का स्वभाव है। वह थोड़ा प्रकट है और थोडा अप्रकट है। जो प्रकट है वह तो जीव का स्वभाव है और स्वभाव कभी बंध का कारण नहीं हो सकता। यदि स्वभाव ही बंध का कारण होगा तो बंध का कभी अभाव ही नहीं होगा। ज्ञान दर्शनादि जो अप्रकट हैं, उनका तो अभाव ही है- उनकी उपस्थिति ही नहीं है - वे हाजिर ही नहीं हैं तो वे बंध का कारण कैसे हो सकते हैं ? इसलिए ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतराय कर्मों का उदय नवीन कर्मबंध में निमित्त नहीं हो सकता। अघातिकर्मों के विपाक का फल तो बाह्य संयोग, शरीर, आयु आदि रूप से मिलता है। ये तो सब परद्रव्य हैं और परद्रव्य बंध का कारण नहीं हो सकते। अब रही बात एक मात्र मोहनीय कर्म की। इसके दो भेद हैं - दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय कर्म।

दर्शनमोहनीय के उदय में मिथ्यात्व होता है यानि श्रध्दा की विपरीतता होती है और चारित्रमोहनीय के उदय में कषाय यानि रागद्वेष होते हैं जो चारित्र के विभाव हैं। श्रध्दा की विपरीतता में यह जीव स्वयं को जीव न मानकर आठ कर्मों के उदय में प्राप्त जीव और पुद्गल की मिलीजुली पर्याय को ही `यह मैं हूँ' मानता है। नामकर्म के निमित्त से मिला हुआ शरीर मैं हूँ, मैं मनुष्य हूँ, मैं गोरा हूँ, मै सुंदर हूँ, मैं बलवान हूँ मानता है। गोत्रकर्म के निमित्त से प्राप्त उच्च कुल के कारण मैं उच्चकुलवाला हूँ मानता है। आयुकर्म के उदय से लम्बी आयु प्राप्त हुअी तो मानता है कि मैं दीर्घायुषि हूँ, कसरत, दवा, परहेज़, आदि ठीक करने से मैं जी रहा हूँ। सातावेदनीय के उदय के निमित्त से प्राप्त घरबार, पैसा, इष्टसंयोग को ये मेरे हैं और मैंने बड़ी बुध्दि के साथ इन्हें इकट्ठा किया है मानता है।

मैं बहुत बुध्दिमान हूँ, ट्यूशन्स के साथ पढ़ने से मेरी बुध्दि बढ़ गयी मानता है। ज्ञानावरण कर्म के उदय में होनेवाली ज्ञान की हीनाधिकता जितना ही अपना ज्ञानसामर्थ्य मानता है। दर्शनावरण कर्म के उदय में

आनेवाली गाढ़ निद्रा में सुखबुध्दि मानता है। सातों ही तत्त्वसंबंधी विपरीत मान्यता लिए हुअे है। चारित्रमोहनीय कर्म के उदय में होनेवाले रागद्वेष को अपना स्वभाव मानता है, जैसे मैं दयावान हूँ, फलाना आदमी क्रोधी है मानता है।

ऊपर की सभी बातें कर्म के उदय में हुअी जीव और पुद्गलों की अवस्थायें हैं, उन सब को मिलाकर उस पर्याय जितना ही मैं हूँ माननेवाला जीव मिथ्यादृष्टि है, उसकी श्रध्दा विपरीत है।

कर्म सूक्ष्म होने के कारण दिखायी नहीं देता परंतु उसके उदय के फल स्वरूप कार्य तो अनुभव में आता है। इन सभी बातों को जाननेवाला तो जीव स्वयं ही है परंतु अरूपी होने के कारण इंद्रियों द्वारा नहीं दिखता, अनुभव में नहीं आता। इसलिए कर्मों के इन कार्यों को ही जीव अपना स्वरूप मान लेता है।

जीव की सब से बड़ी भूल तो यह है कि उसने `स्व' का स्वरूप ही विपरीत माना है। इस वजह से इस काल्पनिक `स्व' के लिए जो बातें उसे अनुकूल प्रतीत होती हैं उनके प्रति उसे राग उत्पन्न होता है व जो बातें प्रतिकूल प्रतीत होती हैं उनके प्रति उसे द्वेष उत्पन्न होता है। इतने से ही यह जीव रुकता नहीं है परंतु उन रागद्वेषों को, जो कि क्षणिक विकार हैं, अपना स्वभाव मानता है, करने योग्य मानता है, एक प्रकार का राग छोड़कर अन्य विशिष्ट राग करना चाहता है और औरों को उपदेश भी उसीप्रकार का देता है।

इसतरह मोहनीय कर्म के उदय में होनेवाले मिथ्यात्व और रागद्वेष के निमित्त से नवीन बंध होता है। `तत्त्वार्थसूत्र' नामक ग्रंथ में सूत्र है कि, मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग बंध के हेतु हैं। सर्व प्रथम मिथ्यात्व का अभाव करने पर ही बाकी बंध के हेतु क्रम से नष्ट होते हैं। परंतु मिथ्यात्व कायम रखकर भले कितने ही शुभराग क्यों न करें, बंध का अभाव नहीं होता।

मैं अनंत ज्ञानादि गुणों का पिंड हूँ, ध्रुव, शुध्द, स्वयंसिध्द पदार्थ हूँ इसतरह अपने शाश्वत अस्तित्व एवं ध्रुवस्वभाव का स्वीकार करके ज्ञान की प्रकट पर्याय राग द्वेषों को जानना छोड़कर अपने ध्रुव स्वभाव को जानने में एकाग्र होने पर स्वभावोत्पन्न सहज अतींद्रिय आनंद की अनुभूति होती है।

परंतु राग को ही जानते रहने से और उसे अपना स्वभाव मानने से राग दुःखरूप होने के कारण इस जीव को दुःख की ही अनुभूति होती है। यह जीव परद्रव्यों को दुःख का कारण मानकर अधिकाधिक राग द्वेष करने से अधिक दुःखी होता है।

इसतरह आज हमने आठ कर्मों के नाम तथा उनके घातिकर्म और अघातिकर्म भेद, इन आठ कर्मों के उदय में प्राप्त होनेवाले फल आदि बातें देखी। हमने यह भी देखा कि, सात या आठ कर्मों का बंध निरंतर होता है, आठ कर्मों का उदय निरंतर होता है परंतु मोहनीय कर्म के उदय में होनेवाले मिथ्यात्व और राग, द्वेष का निमित्त पाकर ही पुनः नवीन कर्म का बंध होता है, पाप करने से पाप कर्म बंधते ही हैं परंतु पुण्य करने पर भी पुण्य और पाप दोनों प्रकार के कर्म बंधते हैं। मुझे याद है, मैंने तुम्हें गृहपाठ करने के लिए कहा है। मोक्षमार्गप्रकाशक पृष्ठ क्रमांक 32 से 44 पढ़ना। दूसरा अध्याय शुरू से पढ़ोगी तो अधिक अच्छा रहेगा। पत्रों द्वारा बहुत स्थूल कथन हो सकता है। तुम्हारी इस विषय में उत्कंठा जाग्रत हो और तुम ग्रंथो का अध्ययन शुरू करो यही मेरा मूल उद्देश्य है।

– तुम्हारी माँ

****

कर्म-स्थिति, आबाधाकाल और उदयकाल

पत्रांक 3 ॥ ॐ नमः सिध्देभ्यः ॥ 27 जुलाई 1999

प्रिय रीना एवं मोना,

अनेक उत्तम शुभाशीर्वाद

कर्म के बंध और उदय की यह कथा सुरस और चमत्कारिक प्रतीत होती है, उसका भय भी लगता है ऐसा तुम्हारा कहना है। इसमें भय का कोई कारण ही नहीं है। जिसतरह अंधेरे कमरे में जाने से बालक ड़रता है परंतु उस कमरे में दीपक जलाकर प्रकाशित करने पर बालक का भय निकल जाता है उसीप्रकार जिनेन्द्र भगवंतों ने अपने केवलज्ञान द्वारा समस्त वस्तुव्यवस्था जानकर छहों द्रव्यों का स्वरूप बताया है। वह कथन आचार्यों द्वारा लिखित आगम ग्रंथों में हमें उपलब्ध है। इस आगम के प्रकाश में जीव, कर्म, नोकर्म यानि शरीर, मन, वाणी आदि का स्वरूप, उनका एक दूसरे से होनेवाला संबंध, परस्पर निमित्त नैमित्तिकपना, उनकी विविध अवस्थायें स्पष्टरूपसे अपने ख्याल में आने पर स्वयं के भिन्न चैतन्यमय अस्तित्व का भान हमें होता है तथा कर्मसंबंधी अपना भय भाग जाता है।

कर्म का बंध निरंतर होता रहता है - जाग्रत अवस्था, नींद, बेहोशी तथा विग्रहगति में भी कर्म का बंध निरंतर होता है। यहाँ तुम प्रश्न पूछोगी कि, 'विग्रहगति क्या होती है ? मनुष्य गति, तिर्यंचगति, देवगति और नरकगति ये चार गतियां और इनका अभाव करके प्राप्त हुअी सिध्दगति तो हम जानते हैं। तो फिर यह कौनसी नई गति है ?'

विग्रह यानि देह, मरण के पश्चात् जीव नया देह धारण करने के लिए परभव की ओर जो गमन करता है उसे विग्रहगति कहते हैं। विग्रह शब्द का दूसरा अर्थ है रोकना-निरोध करना। इस विग्रहगति में कर्म का ग्रहण और बंध तो होता है परंतु नोकर्म पुद्गलों का यानि शरीर, मन, वाणी संबंधी नोकर्मवर्गणाओं का ग्रहण नहीं होता, उनका निरोध होता है, इसलिए इसे विग्रहगति कहते हैं।

अब चूँकि इसकी चर्चा चल ही रही है तो इसके बारे में और जानकारी बता देती हूँ। इस संबंध में तत्त्वार्थसूत्र अध्याय 2 - सूत्र 25, 26, 27, 28, 29 व 30 की 'अर्थप्रकाशिका' नाम के टीका ग्रंथ से यह संदर्भ लिख रही हूँ।

मरण के पश्चात् नवीन शरीर धारण करने के लिए जीव गमन करता है उस समय आकाश के प्रदेशों के श्रेणीरूप पंक्तियों मे सीधा गमन करता है। तिरछा गमन नहीं कर सकता। यह गमन ऊर्ध्व यानि ऊपर की ओर, अधो यानि नीचे की ओर, तिर्यक् यानि आडा गमन मात्र पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर इन मुख्य दिशाओं में ही होता है तिरछा यानि विदिशाओं में अर्थात् आग्नेय, नैऋत्य, वायव्य, ईशान्य इन उपदिशाओं में गमन नहीं होता। जैसे शतरंज के खेल में हाथी सामने या बाजू में सीधा चाल चलता है परंतु ऊंट की तरह तिरछा नहीं चलता। दूसरा भी एक दृष्टान्त देख सकती हो। सीधे और आडे धागों से बना रूमाल देखो। धागे पर से ही चलकर जाना हो तो एक कोने से सामनेवाले दूसरे कोने की ओर जाने के लिए पहले सीधा धागा पकडकर जाना होगा और फिर 90 अंश में मुड़कर फिर आड़े धागे पर से सीधा जाकर इच्छित बिंदू पर पहुंचेंगे।

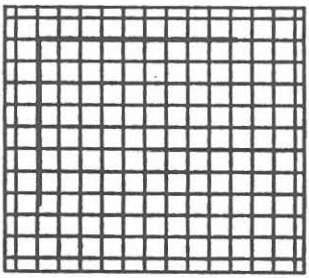

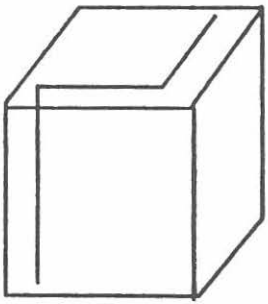

एक सतह पर जाना हो तो कहीं भी अधिक से अधिक एक मोड लेकर जा सकते हैं। परंतु लोकाकाश तो घनस्वरूप है। इसलिए अन्य सतह पर - अन्य लेव्हल पर जाने के लिए ऊपर या नीचे की ओर भी जाना पड़ेगा। आकृति में दिखाया है वैसे चौरस घन हो तो किसी एक बिंदू से अन्य बिंदू तक पहुंचने के लिए अधिक से अधिक दो मोड लेने पड़ेंगे। परंतु लोकाकाश के आकार से तो तुम परिचित हो ही। उसका पूर्व पश्चिम विस्तार ऊपर से नीचे तक असमान है। इसलिए नीचे के एक कोने से पहले मध्य के एक राजू में आकर फिर ऊपर की ओर गमन करना होगा और आवश्यक हो तो और दो मोड़ लेकर जीव कहीं भी पहुंच सकता है।

मरण के पश्चात् संसारी जीवों का परभव धारण करने के लिए यह जो गमन मोड़सहित होता है उसे विग्रहगति कहते हैं। क्योंकि विग्रह शब्द का मोड़सहित ऐसा भी अर्थ होता है। इसमें तीर की भांति सीधी गति एक समय की है उसे 'इषुगति' या 'ऋजुगति' कहते हैं। एक मोड़वाली गति को 'पाणिमुक्ता' गति कहते है, इसमें दो समय लगते हैं। जिसमें दो मोड़ होते हैं ऐसी 'लांगलिका' गति में तीन समय लगते हैं। लांगल यानि हल, हल के समान इसमें दो मोड़ होते हैं। तीन मोड़वाली 'गोमुत्रिका' गति में चार समय लगते हैं। इससे अधिक काल दूसरे भव में जाने के लिए नहीं लगता।

विग्रहगति के पहले समय से ही नूतन आयु का उदय प्रारंभ होता है। ऐसा कभी नहीं होता कि मरण के बाद दूसरा जन्म धारण करने के पूर्व आत्मा इधर उधर भटकती फिरती हो या मरण के पश्चात् घर में ही आसपास घूमती रहती हो।

देखो, हमें देशांतर में पर्यटन करना हो तो कितनी सारी बातों की चिंता करनी पड़ती है - टिकट बुकिंग होना चाहिए, व्हिसा मिलना चाहिए, रहने का इन्तजाम, पर्यटन स्थलों की जानकारी, पैसों की व्यवस्था, खानपान संबंधी चिंता, चोरों का भय। एक ना दो, कितनी सारी चिंतायें बनी रहती हैं। परंतु जीव को भवभवांतर में भटकना हो तो उसे कोई चिंता नहीं करनी पड़ती। पहले भव में ही उसके आगामी भवसंबंधी सब बुकिंग तैयार रहता है। अगला भव कौनसा होगा ? वहाँ शरीर कैसा होगा ? इंद्रियां कितनी मिलेगी ? संयोग कौन कौनसे होंगे सब कुछ निश्चित होता है। परंतु यदि उसे इस कर्म बंधन और भवभ्रमण से भय लगता हो तो भव का अभाव करने की विधि उसे जिनागम के आधार से सीखनी पड़ेगी।

जिसमें मोड़ यानि वक्रता (विग्रह) नहीं है उसे 'अविग्रहगति' कहते हैं- इसी को ऋजुगति कहते हैं। इसका काल एक समय है। जीव एक समय में अधिक से अधिक चौदह राजू गमन कर सकता है। लोकाकाश के नीचे से ऊपर तक की लम्बाई चौदह राजू है। एक पुद्गल परमाणु भी इस प्रचंड वेग से गमन कर सकता है। विग्रहगति में एक दिशा में सीधा गमन एक समय में होता है, भला उसे एक हाथ जाना हो या चौदह राजू जाना हो। पुद्गल भी अत्यंत मंद वेग से एक समय में एक प्रदेश जितना गमन करता है और अत्यंत जलद वेग से एक समय में चौदह राजू गमन करता है।

अब विग्रहगति में आहारक, अनाहारक का नियम देखेंगे। यह जानकारी भविष्य में `मार्गणा' की चर्चा में कार्यकारी होगी।

तुम कहोगी, `विग्रहगति में तो जीव के शरीर नहीं होता तो फिर वह आहार यानि भोजन किस तरह करता होगा ?' बेटी, आहार शब्द के अनेक अर्थ हैं और आहार भी अनेक प्रकार का है। आहार यानि भोजन, आहार यानि ग्रहण, आहार नाम की संज्ञा है, आहार नाम की मार्गणा है, आहार नाम की वर्गणा है, आहार नाम की पर्याप्ति भी है।

आहार छह प्रकार का है। मनुष्य और तिर्यंच मुख से भोजन ग्रहण करते हैं उसे कवलाहार कहते हैं, यह एक प्रकार है। कर्म आहार, नोकर्म आहार, लेपाहार, ओजाहार, कवलाहार और मानसिक आहार इसतरह आहार के कुल छह प्रकार हैं। तुम कहोगी, `कोई पैसे खाता है तो कोई गालियां खाता है यह कौनसा आहार ?' हम राजनीति के बारे में थोड़े ही बोल रहे हैं ? अस्तु।

हमने पहले देखा है कि जीव हर समय कर्म का ग्रहण करते ही आया है। जब तक योग का सद्भाव है ऐसे सयोगकेवली गुणस्थान नामक अरहंत अवस्था तक कर्मों का ग्रहण यानि कर्म आहार निरंतर चलता रहता है। अनादिकाल से उसमें एक समय मात्र के लिए भी खंड नहीं पड़ता।

परंतु शरीर, मन, वाणी आदि संबंधी पुद्गल परमाणुओं का ग्रहण `नोकर्म आहार' कहलाता है। औदारिक, वैक्रियिक और आहारक इन तीन शरीर तथा छह पर्याप्ति के योग्य पुद्गल परमाणुओं का ग्रहण आहार कहलाता है और इसतरह का आहार ग्रहण करनेवाला जीव आहारक कहलाता है। आहारपर्याप्ति, शरीरपर्याप्ति, इंद्रियपर्याप्ति, श्वासोच्छ्वास-पर्याप्ति, भाषापर्याप्ति और मनपर्याप्ति इन छह पर्याप्तिसंबंधी विस्तारसहित चर्चा बाद में करूंगी।

एक समयवाली ऋजुगतिवाला जीव उसी समय में आहार ग्रहण करता है इसलिए विग्रहगति में भी वह आहारक रहता है। मरण होने पर एक समय में अन्य जगह पहुंच कर नूतन शरीरसंबंधी परमाणुओं का वह ग्रहण करता है।

परंतु जो जीव एक मोड़ लेकर परभव जाता है वह पहले एक समय के लिए अनाहारक रहता है और दूसरे समय में आहारक होता है। अनाहारक

अवस्था में नोकर्मआहार नहीं होने पर भी कर्म ग्रहणरूप कर्मआहार तो चालू ही रहता है। दो मोड़वाली विग्रहगतिवाला जीव दो समय अनाहारक रहकर तीसरे समय में आहारक होता है। तीन मोड़वाली विग्रहगति में जीव तीन समय तक अनाहारक रहकर चौथे समय में आहारक होता है।

नोकर्मआहार करके यानि नोकर्म का ग्रहण करके जीव नया शरीर धारण करता है, शरीर निर्माण होता है उसे जन्म कहते हैं। हॉस्पिटल में प्रसूति होने पर बच्चे का जन्म हुआ कहना तो लौकिक व्यवहार का कथन है।

देखो तो, कोई जीव मर गया ऐसा हम कहते हैं तब असल में क्या होता है ? पुराने शरीर के सभी परमाणु छोड़कर जीव अन्यत्र परभव की ओर गमन करता है। जाते समय शरीर, स्त्री-पुत्र, जमीन-जायदाद, मित्र-परिवार, ऐश्वर्य, अधिकार सब कुछ यहीं पर छोड़कर चला जाता है। तुम पूछोगी कि, `कुछ तो साथ में ले जाता होगा कि नहीं ?' हाँ, क्यों नहीं? ऊपर की सभी बातों संबंधी मोह, राग, द्वेष करके उपार्जित किये हुअे - बांधे हुअे - सभी कर्म साथ में ले जाता है। यह प्राप्त शरीर छोड़कर कार्माण और तेजस शरीर के साथ जीव विग्रहगति में जाता है। विग्रहगति के पहले समय से ही नूतन आयु का उदय प्रारंभ होता है और जितनी आयु बांधी हो उतने काल तक हर समय आयुकर्म के परमाणु उदय में आते रहते हैं।

जरा शांति से सोचो तो सही कि बच्चे के जन्म पर हर्ष और किसी के मृत्यु पर हम शोक क्यों करते हैं ? मरनेवाले के लिए हम शोक करते हैं या हमारे संयोग की इष्टता नष्ट हुअी इसलिए शोक करते हैं या अन्य लोग क्या कहेंगे सोचकर प्रदर्शन के लिए शोक करते हैं ? क्या इन कषायों की निरर्थकता ख्याल में नहीं आती ? हाँ ! कषाय भी सार्थक हैं, परंतु वे मात्र कर्मबंधन करने में ही सार्थक हैं। वर्तमान में शोकादि संक्लेश परिणाम करने पर जो कर्म बंधते हैं उनके उदय में पुनः वैसे ही प्रसंग भविष्य में प्राप्त होते हैं।

हर समय नवीन कर्म का बंध होता है और स्थिति पूर्ण होने पर वे सब एक साथ एक समय में उदय को प्राप्त होते हैं ऐसा यदि तुम्हारा सोचना होगा तो वह बिलकुल गलत है। जैसे, किसी ने 1000 कर्म परमाणु बांधे हैं और उसकी 100 साल की स्थिति होगी तो 100 साल पूर्ण होने पर 1000 परमाणु एकसाथ एक समय में खिरते होंगे ऐसी कल्पना झूठी है।

तो सच बात क्या है इसे जानने की तुम्हें उत्सुकता होगी । तो सुनो, बंध होने के बाद कर्मपरमाणु सत्ता में पड़े रहते हैं, विवक्षित काल तक उदय में नहीं आते, उसे `आबाधाकाल' कहते हैं । आबाधाकाल पूर्ण होते ही उस विवक्षित कर्म का उदयकाल प्रारंभ होता है । कुछ परमाणु पहले समय में उदय होकर खिर जाते हैं । एक समय में खिरनेवाले परमाणुओं के समूह को `निषेक' कहते हैं । दूसरे समय में और एक निषेक खिरता है - निकल जाता है - उदय में आता है । परंतु दूसरे निषेक के परमाणुओं की संख्या पहले निषेक के परमाणुओं से कम होती है । तीसरे समय में उदय में आनेवाले निषेक में उससे भी कम परमाणु होते हैं । इसीतरह उत्तरोत्तर निषेकों में परमाणुओं की संख्या हीन होती जाती है इसे निषेकरचना कहते हैं । कर्म की जितनी स्थिति बंधी हो उस स्थिति के अंत समय तक हर समय एक एक निषेक उदय में आता रहता है ।

आयुबिना अन्य सात कर्मों की स्थिति :-

स्थिति = आबाधाकाल + उदयकाल

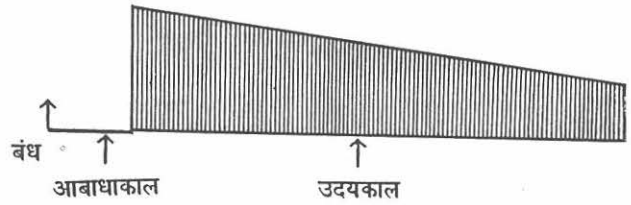

आयुकर्म के बिना शेष सात कर्मों की स्थिति में से आबाधाकाल छोड़कर जो काल रहता है उसे उदयकाल कहते हैं । उदयकाल के प्रत्येक समय में उस विवक्षित एक समय में बंधे हुअे कर्म का उदय निरंतर होता है।

देखो कैसी अजब बात है । जीव एक समय में जो मोह, राग, द्वेष परिणाम करता है उसके निमित्त से कर्म बंधते हैं, अनंत पुद्गल परमाणु बंधते हैं और उनका उदय निरंतर सेंकडों - हजारों - लाखों - सागरों वर्ष तक होता रहता है । यह तो एक समय में बंधे हुअे कर्म की बात है । इसीप्रकार

हर समय हम कर्म का बंध करते हैं और उनका प्रत्येक का उदय भी अनेक सालों तक चलता रहता है ।

भिन्न भिन्न समयों में बंधे हुअे जिन कर्मों का उदयकाल (Maturity) चल रहा हो उन सभी कर्मों के उदय का एकत्रित फल हमें प्राप्त होता है। यहाँ हमने आयु कर्म को छोड़कर बात की थी क्योंकि आयुकर्म की जितनी स्थिति होती है उतना ही उसका उदयकाल होता है ।

जैसे, किसी व्यक्ति ने 60 वें साल में परभव की 10,000 वर्ष की नरकायु बांधी, उसकी वर्तमान आयु 90 साल की है । वर्तमान आयु को `भुज्यमान आयु' और आगामी बंधी हुअी आयु को `बध्यमान आयु' कहते हैं, याद है ना ? पहले बताया तो था । इस व्यक्ति के 60 वें साल से 90 साल तक भुज्यमान आयु का उदय चलता रहेगा । इस आयु का अंतिम निषेक खिरते ही मरण होगा और अगले समय में विग्रहगति में ही नवीन आयु का उदय प्रारंभ होगा । इस जीव ने 10,000 वर्ष की नरकायु बांधी है इसलिए निरंतर 10,000 वर्ष तक इसके आयु के निषेक खिरते रहेंगे ।

यहाँ कोई प्रश्न करेगा कि क्या बध्यमान आयु में आबाधाकाल नहीं होता? होता है, नूतन आयु बंधने के समय से वर्तमान आयु का शेष बचा हुआ काल नूतन आयु का आबाधाकाल है। हमारे ऊपर बताये हुअे उदाहरण में 90 वर्ष की आयुवाले मनुष्य ने 60 वें वर्ष में नरकायु बांधी इसलिए उसकी नरकायु का आबाधाकाल 30 वर्ष है ।

आयुकर्म की स्थिति = उदयकाल

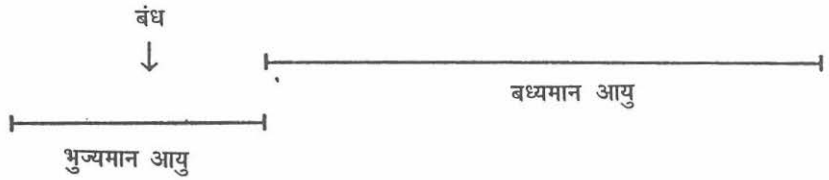

विग्रहगति के पहले समय से उसका नरकायु का उदय प्रारंभ होगा । मरण के पूर्व जिसे हम मनुष्य कहते थे वही जीव अब नारकी नाम से पहचाना जायेगा। नरकायु का उदय निरंतर 10,000 वर्ष चलता रहेगा ।

जीव भविष्य के एक ही भव की आयु बांधता है । आगामी भव में उसके बाद आनेवाले भव की आयु बांधता है । सात कर्मों का बंध निरंतर होता है परंतु आयु कर्म का बंध कभी कभी होता है, इस बात की हमने चर्चा की थी। वह बंध किस वक्त होता है उसे उदाहरण देकर समझाऊंगी ।

वर्तमान यानि भुज्यमान आयु के त्रिभाग करना अर्थात् तीन भाग करना। उसमें से दो भाग आयु बीत जाने पर यानि अंतिम त्रिभाग शेष रहने पर जो एक अंतर्मुहूर्त काल है उसमें नूतन आयुका बंध होने की संभावना होती है। इस काल को `अपकर्ष' कहते हैं। यदि इस पहले अपकर्षकाल में आयु का बंध न हुआ हो तो शेष बची हुअी आयु का दो तिहाई ($\frac{2}{3}$) काल बीत जाने पर दूसरा अपकर्षकाल आता है। उस वक्त भी आयु न बंधी हो तो तीसरे अपकर्ष काल में बंधेगी। इसतरह अधिक से अधिक आठ अपकर्षकाल होते हैं। इन आठों ही बार आयु का बंध न हुआ तो मरण के पूर्व अंतर्मुहूर्त काल में आगामी आयु का बंध होता ही है।

आयु बांधना यानि आगामी जिस भव में जानेवाले हो उस आयुकर्म के परमाणु आकर उनका बंध होना। एक अंतर्मुहूर्त काल में इतने सारे परमाणुओं का ग्रहण होता है। किसी जीव के एक अपकर्षकाल में आयुबंध होता है, किसी के दो अपकर्षकालों में मिलाकर, किसी के तीन, चार, पांच, छह, सात या आठ अपकर्षकाल में मिलाकर आयु का बंध होता है। परंतु इन जीवों का प्रमाण उत्तरोत्तर कम होता है।

अब हम देखते हैं कि, 6561 वर्ष की आयुवाले कर्मभूमि के मनुष्य के आठ अपकर्ष कब होंगे ? आयु की गणना जन्म से नहीं अपितु गर्भ से करनी पड़ेगी। इससे भी सूक्ष्मता से विचार करेंगे तो मनुष्यायु की शुरुआत विग्रहगति के पहले समय से होती है अतः उस समय से आयु नापनी पड़ेगी।

1 ला अपकर्ष	-	6561	का दो तिहाई यानि 4374 वर्ष बीतने पर और
		2187	वर्ष शेष रहने पर आता है। उसी प्रकार -
2 रा अपकर्ष	-	729	वर्ष शेष रहने पर,
3 रा अपकर्ष	-	243	वर्ष शेष रहने पर,
4 था अपकर्ष	-	81	वर्ष शेष रहने पर,
5 वां अपकर्ष	-	27	वर्ष शेष रहने पर,
6 वां अपकर्ष	-	9	वर्ष शेष रहने पर,
7 वां अपकर्ष	-	3	वर्ष शेष रहने पर,
8 वां अपकर्ष	-	1	वर्ष शेष रहने पर आता है।

कर्मभूमि के मनुष्य और तिर्यंचों के पूर्ण आयु के त्रिभाग होते हैं, परंतु भोगभूमि के मनुष्यों और तिर्यंचों की आयु के 9 महिने शेष रहने पर उसमें आठ अपकर्ष होते हैं। देव और नारकी जीवों की आयु के छह महिने शेष रहने पर आयुबंध प्रारंभ होता है और उसमें त्रिभाग होते हैं।

इसकारण बहुत लोग एक दूसरे को उपदेश देते हैं कि परिणाम ठीक रखो। आयुबंध कब होगा क्या भरोसा ? परंतु अच्छी आयु के चक्कर में मिथ्यात्व और रागद्वेष की तरफ कोई ध्यान ही नहीं देता। आयु सुख दुःख का कारण नहीं है परंतु मोह, राग, द्वेष ही दुःख का मूल है, स्वयं दुःखरूप है, उसके कारण आठों ही कर्म बंधते हैं और बंध-उदय का यह चक्र अनादि से अनंत काल तक चलता ही रहता है।

अब कितनी स्थिति होने पर कितना आबाधाकाल रहेगा उसकी चर्चा करेंगे। इसका प्रमाण है - 1 कोडाकोडी सागर वर्ष की स्थितिवाले कर्म में 100 वर्ष आबाधाकाल होता है। कोडाकोडी का अर्थ है - करोड गुणा करोड। एक करोड में एक अंक के बाद सात बिंदी होती हैं, कोडाकोडी में एक अंक के बाद 14 बिंदी होती हैं। इतने सागर वर्ष अर्थात् 1 सागर वर्ष, 2 सागर वर्ष, 3 सागर वर्ष .....1 कोडाकोडी बार सागर वर्ष जितनी स्थिति। आयु बिना अन्य सात कर्मों में आबाधाकाल का यह प्रमाण है।

तीव्र मिथ्यात्व के कारण जीव अधिक से अधिक स्थितिवाला मिथ्यात्व (दर्शनमोहनीय) कर्म का बंध करता है तब उसकी उत्कृष्ट स्थिति 70 कोडाकोडी सागर होती है। 7000 वर्षों के बाद उसका उदयकाल प्रारंभ होता है अर्थात् उसका आबाधाकाल 7000 वर्षों का है। उसके पश्चात् 70 कोडाकोडी सागर वर्ष पूर्ण होने तक उसका उदय निरंतर चलता रहता है। एक समय के मिथ्यात्व परिणाम का यह फल है तो अनेक समयों में बंधे हुअे मिथ्यात्व का फल कैसे होगा उसकी कल्पना तुम कर सकोगी।

सागर का नाप सुनने की तैयारी है तुम्हारी ? तुम्हारा महासंगणक लाओगी तो भी इसका गणित नहीं समझ पाओगी। उसका थोडासा नमुना देखो तो सही। मैं केवल स्थूल कथन ही करूंगी इसलिए घबराने की कोई जरूरत नहीं है।

1 योजन व्यास और 1 योजन गहरा गोल कुंड या गर्त यानि गड्ढा तैयार करो। यह सब अपनी कल्पना में ही करना है, समझी ना ! 4 कोस का 1 योजन होता है। यह साधारण कोस या योजन नहीं है, महायोजन है। यह

गर्त अति मुलायम रोमखंडों से ठसाठस भर देना, शिगाऊ मत भरना। रोमखंड का अर्थ भी जान लो। उत्तम भोगभूमि में जन्मे हुअे सात दिन से कम उम्रवाले मेंढ़े के बालक के बालों का अग्रभाग कि जिसका दूसरा टुकड़ा न हो सके रोमखंड कहलाता है। भोगभूमि के जीवों के बाल का अग्रभाग अपनी कर्मभूमि के बाल के अग्रभाग से 4096 वें भाग जितना पतला होता है।

उस गड्ढे में कितने रोमखंड समा सकते हैं उसका भी गणित है परंतु हम उसे छोड़ देंगे। 45 अंक प्रमाण यह संख्या है। हर 100 साल बाद एक रोमखंड निकालते जाना, जब यह गड्ढा पूरा खाली हो जायेगा तब उतने कालावधी को एक व्यवहारपल्य कहते हैं। पल्य यानि गर्त - गड्ढा। उसकी उपमा देकर यह प्रमाण बताया है इसलिए पल्य, सागर आदि उपमामान के प्रकार हैं।

व्यवहार पल्य के रोमखंड के प्रमाण को असंख्यात करोड वर्षों के समयों से गुणा करने पर उध्दारपल्य के रोमखंडों का प्रमाण निकलता है और इसे असंख्यात वर्षों के समयों से गुणा करने पर अध्दापल्य के रोमखंडों की संख्या निकलती है। प्रत्येक पल्य को 10 कोडाकोडी से गुणा करने पर अपना अपना सागर का प्रमाण होता है।

अर्थात् असंख्यात व्यवहारपल्य	=	1 उध्दारपल्य।
असंख्यात उध्दारपल्य	=	1 अध्दापल्य।
10 कोडाकोडी व्यवहारपल्य	=	1 व्यवहारसागर।
10 कोडाकोडी उध्दारपल्य	=	1 उध्दारसागर।
10 कोडाकोडी अध्दापल्य	=	1 अध्दासागर।

कर्मों की स्थिति अध्दासागर में नापी जाती है। सागर अर्थात् लवण समुद्र की उपमा देकर यह संख्या समझायी है। देव और नारकी जीवों की आयु सागरों वर्षों की होती है। उनमें उत्कृष्ट आयु 33 सागर वर्ष हैं। मनुष्य और तिर्यंचों की उत्कृष्ट आयु भोगभूमिवाले जीवों की 3 पल्य होती है।

उसकी तुलना में हमारा यह मनुष्यभव कितना अल्प है। उसका 1-1 समय मूल्यवान है। अनादिकाल से इस जीव ने अनंत भव धारण किये, परंतु अपने को पहचानने का कार्य किया नहीं, रह गया। वह कार्य इसी भव में करना है, नहीं तो और अनंतकाल तक भटकना पड़ेगा, चतुर्गति में घूमना पड़ेगा।

अभी पुण्य करेंगे और स्वर्ग में जन्म लेकर वहाँ से तीर्थंकरों के समवशरण में जायेंगे इसप्रकार कहनेवालों के बारे में अचरज लगता है । जो लोग वर्तमान के फालतू संयोंगों का लक्ष-ममत्व छोड़कर शास्त्राभ्यास करके पुरुषार्थ नहीं करते, क्या वे स्वर्ग के ऐश्वर्य का ममत्व छोड़कर इनके पीछे लगनेवाले हैं? कुछ लोग विदेहक्षेत्र में जन्म लेने के सपने देखते हैं। जिसे आगामी एक भव की वांछा है उसके अभिप्राय में अनंत भव करने की इच्छा छिपी हुअी है ।

पंचमकाल का भरतक्षेत्र का जीव सम्यक्त्व के साथ मरकर विदेहक्षेत्र में जन्मेगा नहीं । सम्यक्त्व होने के बाद आयुबंध किया हो तो स्वर्ग में देव होगा, सम्यक्त्व के पहले आयुबंध किया हो तो भोगभूमि का मनुष्य या तिर्यंच या पहले नरक का नारकी होगा । हो सकता है कि मिथ्यात्व के साथ मरकर, पहले मनुष्यायु बांधी हो तो, विदेहक्षेत्र में जन्म लेगा परंतु वह भी दुर्लभ है। इसका अर्थ यह हुआ कि वह जीव इस भव में तो मिथ्यात्वी ही रहना चाहता है ।

यह जीव अनादिकाल से आज तक अनंतबार तीर्थंकरों के समवशरण में जाकर लौटा है, अनंतबार बाह्य मुनिपद धारण करके सम्यक्त्व के अभाव में अभी तक भवभ्रमण ही करता आया है ।

सम्यक्त्व प्राप्ति के सभी साधन - संज्ञी पंचेंद्रियपना, ज्ञान का उघाड, कषायों की मंदता, जिनेन्द्र कथित सत्य उपदेश, इस उपदेश का मर्म बतानेवाले ज्ञानी जीवों का सत्समागम आदि सब कुछ मिलने पर भी जो भविष्य के वादे करता है उसका 'कल' कभी ऊगता ही नहीं । कायम के लिए - हमेशा के लिए यह कार्य जीव अगले भव में करने के लिए छोड़ देता है।

अस्तु, सागर में नहीं परंतु सागर के विषय पर से हम कहीं के कहीं बहते चले गये, है ना? परंतु इस भवसागर में न बहकर - न डूबकर उसका किनारा इसी भव में पा लेंगे ऐसा दृढ संकल्प हम करेंगे ।

– तुम्हारी माँ

नोकर्म - बंध, स्थिति, उदय

पत्रांक 4 ॥ ॐ नमः सिध्देभ्यः ॥ 28 जुलाई 1999

प्रिय रीना एवं मोना,

अनेक उत्तम शुभाशीर्वाद ।

सागर का नाप और कर्म का गणित पढ़कर कंटाला तो नहीं आया ना? किसी का रोज करोड़ों रुपयों का व्यवहार चलता होगा तो उसे कितना उत्साह आता होगा, उसकी बातें सुननेवाला भी उत्तेजित होता है । तुम्हें करोड़ो और अब्जों संख्याओं का ही इतना आकर्षण होगा तो जिनागम का अध्ययन जरूर करना । यहाँ तो सारी चीजें असंख्यात, अनंत, पल्य, सागर आदि में ही नापी जाती हैं । यहाँ तो अनंतों में कारोबार चलता है ।

सबसे महत्व की बात याद रखो कि `मेरी समझ में नहीं आता' ऐसा विकल्प भी - विचार भी मन में नहीं लाना । `मेरी समझ में नहीं आया' यह बात किस की समझ में आयी ? तुम्हारी कि पड़ौसी की ? यह जिसकी समझ में आयी वही तो तू स्वयं है । आगम ज्ञान भी तुम्हारी समझ में अवश्य आयेगा, क्यों नहीं समझेगा ?

`मैं तो केवलज्ञान शक्ति से परिपूर्ण ज्ञान का घनपिंड हूँ और उसमें से सादि अनंत काल तक केवलज्ञान की पर्यायें निरंतर निकलनेवाली हैं, फिर भी मैं ध्रुव वैसा का वैसा अनादिअनंत विराजमान हूँ और रहूंगा' इस बात का पता चले तो उसकी तुलना में इस अल्प श्रुतज्ञान की क्या चिंता करनी ? अपने स्वभाव का ही इन्कार मत करना । श्रुतज्ञान की यह पर्याय भी अपने ज्ञान स्वभाव में से ही निकलती है, शास्त्र वांचन में से या शब्दों में से नहीं निकलती । क्योंकि जो पर्याय जिस द्रव्य की है, वह द्रव्य ही उसका कर्ता है अन्य कोई नहीं ।

कर्म के परमाणु कितनी संख्या में आते हैं और कितने प्रमाण में किस तरह उदय में आते है यह बड़ा मनोरंजक विषय है । जिसतरह कर्म में निषेकरचना होती है, उसीतरह शरीर में यानि नोकर्म में भी निषेकरचना होती है ।

हम इस बात से परिचित हैं कि जब जीव मरकर परभव की ओर गमन करता है तो विग्रहगति में उसके कार्माण और तेजस शरीर होते हैं । विग्रहगति

का काल एक से चार समय है। उसमें से ऋजुगतिवाला जीव उसी समय में नोकर्मआहार ग्रहण करता है अर्थात् शरीरादिसंबंधी अनंत पुद्गल परमाणुओं का ग्रहण करता है। पाणिमुक्ता (1 मोड़) वाले जीव पहले समय में अनाहारक रहकर दूसरे समय में आहारक होते हैं। लांगलिका (2 मोड़) वाले जीव दो समय तक अनाहारक रहकर तीसरे समय में आहारक होते हैं और गोमुत्रिका (3 मोड़) वाले जीव 3 समय तक अनाहारक रहकर चौथे समय में आहारक होते हैं यानि नोकर्मआहार ग्रहण करते हैं।

जीव इन नोकर्मवर्गणाओं को ग्रहण करके उन्हें अपने शरीर, मन, वचन, श्वासोच्छ्वास आदि रूप परिणमाता है। वर्गणाओं के पांच प्रकार तुम पहले पढ़ चुकी हो, याद है ना ? वे इसप्रकार हैं - (1) आहारवर्गणा, (2) तेजसवर्गणा (3) भाषावर्गणा (4) मनोवर्गणा और (5) कार्माणवर्गणा। पुद्गल की कुल 23 वर्गणायें हैं परंतु ऊपर बतायी हुअी पांच वर्गणाओं को ही जीव ग्रहण करता है एवं छोड़ता है। उनमें से कार्माणवर्गणा से कर्म बनता है और अन्य चार वर्गणाओं से शरीर, मन, भाषा, श्वासोच्छ्वास, तेजस शरीर आदि बनते हैं। इन्हें नोकर्मवर्गणा कहते हैं।

अब हम इन वर्गणाओं के बारे में संक्षेप में चर्चा करेंगे। शक्ति के अंशों को अविभाग प्रतिच्छेद कहते हैं। प्रत्येक परमाणु अपनी शक्ति यानि अनुभाग से युक्त है अर्थात् अविभाग प्रतिच्छेदों से युक्त है। इसलिए परमाणु को `वर्ग' कह सकते हैं क्योंकि वर्ग की परिभाषा है - `अविभाग प्रतिच्छेदों के समूह को वर्ग कहते हैं'। जिन परमाणुओं में समान अविभाग प्रतिच्छेद हैं उन परमाणुओं के-वर्गों के-समूह को `वर्गणा' कहते हैं - अर्थात् किसी विवक्षित वर्गणा के सभी परमाणुओं मे शक्ति के अंश समान होते हैं।

जो वर्गणा औदारिक (मनुष्य और तिर्यंचों का शरीर), वैक्रियिक (देव और नारकी का शरीर) और आहारक (आहारक ऋध्दिधारी छठे गुणस्थानवर्ती मुनि के तीर्थवंदना या समवशरण में गमन करने के लिए अंतर्मुहूर्त काल तक बना हुआ एक और शरीर) इन तीन शरीररूप से परिणमित होती हैं उन्हें `आहारवर्गणा' कहते हैं। जीव योग द्वारा इन वर्गणाओं का ग्रहण करके उन्हें शरीररूप परिणमित करता है। जीव की इस शक्ति को पर्याप्ति कहते हैं। चूँकि पर्याप्ति एक स्वतंत्र विषय है इसलिए बाद में उसकी विस्तृत चर्चा करेंगे।

जो वर्गणा तेजसशरीररूप परिणमित होती हैं, उन्हें 'तेजसवर्गणा' कहते हैं। तेजसशरीर औदारिकादि शरीरों में कांति उत्पन्न करने में निमित्त है। जो वर्गणा शब्दरूप परिणमित होती हैं, उन्हें 'भाषावर्गणा' कहते हैं। जिन वर्गणाओं से द्रव्यमन की रचना होती है, उन्हें 'मनोवर्गणा' कहते हैं।

इन चार वर्गणाओं को नोकर्मवर्गणा और उनसे बने शरीरादि को नोकर्मशरीर कहते हैं। जिसप्रकार योगद्वारा यानि आत्मा के परिस्पंदन से यानि आत्मप्रदेशों के कंपन से जीव कार्माणवर्गणाओं का ग्रहण करता है उसीप्रकार योगद्वारा यह जीव शरीरादिसंबंधी नोकर्मवर्गणाओं का भी ग्रहण करता है - उसमें नामकर्म का उदय निमित्तरूप होता है।

अभी अभी जन्मा हुआ बालक कितना छोटा दिखता है और सालभर में कितनी तेजी से बढ़ता है। यदि तुम सोचती हो कि तुमने तुम्हारे बच्चों को खिला पिला कर बड़ा किया, अन्न खाने के कारण शरीर टिकता है, अन्न के बिना कोई जी नहीं सकता तो यह सब तुम्हारी भ्रांति है।

विग्रहगति के अंतिम समय से लेकर प्रतिसमय यह जीव नोकर्मवर्गणा के अनंत पुद्गल परमाणु ग्रहण करता है। अंत समय तक यानि मरण के अंतिम समय तक उसका यह ग्रहण चलता रहता है। अन्न, पानी के ग्रहण बिना भी जीव अनेक वर्षों तक जी सकता है, विश्वास नहीं होता ना ? जरा सोचो, अरहंत भगवान आहार जलादि ग्रहण नहीं करते अर्थात् उन्हें कवलाहार नहीं होता फिर भी वे करोड़ो वर्ष जीते हैं। देव और नारकी का आयुष्य अनेक सागर वर्षों का होता है। देवों की आयु जितनी सागर वर्ष होती है उतने हजार वर्ष बाद उन्हें खाने की इच्छा होती है तब उनके कंठ में से अमृत झरता है और वे तृप्त होते हैं। नारकी जीवों को भूख और प्यास तो प्रचंड लगती है परंतु अन्न जलादि बिना वे सागरों वर्ष तक जीवित रहते हैं।

इसका कारण यही है कि ये सब जीव प्रति समय नोकर्मवर्गणा का आहार यानि ग्रहण करते हैं। विग्रहगति के एक, दो या तीन समय छोड़कर जन्म के समय से लेकर मरण के समय तक प्रति समय जीव नोकर्मआहार करता है।

तुम यदि ऐसा सोचती होगी कि बालक बड़ा होने तक नोकर्म का ग्रहण करता होगा और उसके बाद ये वर्गणा थोड़ी थोड़ी छूटती होगी - खिरती होगी, तो तुम्हारी वह मान्यता गलत है। कर्मों की निषेकरचना समान इन

नोकर्म में भी आबाधाकाल होता होगा ऐसा सोचना भी गलत है। तो फिर होता क्या है ? उसकी अब हम चर्चा करेंगे ।

पहले समय में ग्रहण की हुओ नोकर्मवर्गणाओं में से उसी पहले समय से नोकर्मवर्गणाओं का खिरना-उदय होना-जीव को छोड़कर निकल जाना भी प्रारंभ होता है । अनंत नोकर्म पुद्गलों में से उसी समय में अनेक परमाणु खिरते हैं, दूसरे समय में उससे थोड़े कम, तीसरे समय में उससे कम इसतरह उत्तरोत्तर हीन प्रमाण में होते होते आख़िर में कुछ परमाणु मरण समय में खिरते हैं। नोकर्म की इस निषेकरचना में आबाधाकाल नहीं होता।

विग्रहगति के अंतिम समय में जीव नोकर्मआहार ग्रहण करता है वह उस जीव का जन्मसमय है । उस समय से लेकर आयुकर्म की जितनी स्थिति होगी उतनी ही स्थिति पहले समय में बंधे हुअे नोकर्म की होगी उसका उदयकाल भी उससमय से लेकर मरण तक होगा । दूसरे समय में ग्रहण किये हुअे नोकर्म की स्थिति उर्वरित आयु जितनी अर्थात् `आयु में से 1 समय कम' होगी । दस साल बाद जीव जो नोकर्म ग्रहण करेगा उसकी स्थिति उर्वरित आयु जितनी यानि `आयु में से 10 साल कम' इतनी होगी।

इसे उदाहरण लेकर समझेंगे । 60 वर्ष की वर्तमान आयुवाले जीव ने उमर के 10 वर्ष पूरे होते ही उस समय जो नोकर्म ग्रहण किया है उसकी स्थिति 50 वर्ष की होगी और उसका उदय उस समय से लेकर लगातार 50 वर्ष तक होता रहेगा अर्थात् मरण के समय तक होता रहेगा । उर्वरित आयु को `गलितावशेष आयु' कहते हैं ।

प्रतिसमय जीव अनंत नोकर्म परमाणु ग्रहण करता है और अनंत ही छोड़ता है । क्योंकि भिन्न भिन्न अनेक समयों में बंधे हुअे नोकर्म का उदयकाल एकसाथ चलता है इसलिए उनको इकट्ठा गिनेंगे तो जोड़ अनंत ही होता है । यह तो निश्चित ही है कि इन नोकर्मवर्गणाओं का ग्रहण का समय भिन्न भिन्न होने पर भी प्रत्येक की अंतिम मर्यादा एक ही है, जो आयु की मर्यादा है । जितनी आयु है अर्थात् मरण का जो समय है उतनी ही नोकर्म की अंतिम स्थिति होती है । उसी समय में सभी के सभी नोकर्मों का उदय होकर जीव और नोकर्म पुद्गल एक दूसरे से विभक्त होते हैं और जीव इन को छोड़कर परभव की ओर गमन करता है ।

क्या इस का ठीक अर्थ तुम्हारी समझ में आया ? कि आयु की स्थिति निश्चित होती है, उसमें एक समय की भी वृध्दि संभव नहीं है; उसीप्रकार नोकर्म यानि इस शरीर की स्थिति भी निश्चित ही है। अंतिम समय के बाद एक समय मात्र भी वह जीव के संयोग में रह नहीं सकता। जीव ही उसे छोड़कर अन्यत्र गमन करता है। उसे रोकने के लिए डॉक्टर, वैद्य, मंत्र, तंत्र, हॉस्पिटल, रेस्पिरेटर, ओपन हार्ट सर्जरी, इंद्र, नरेंद्र, जिनेन्द्र कोई भी समर्थ नहीं है, उसमें कोई भी कुछ भी हेरफेर कर नहीं सकता।

बहुत सारे लोग मरण के भय से कुदेवादिकों के चक्कर में फंसकर गृहीत मिथ्यात्व का तीव्र पाप बांधते हैं। अन्य कुछ लोग दूसरों को मरण के मुंह में से बचाने का मिथ्याभिमान करते हैं। उन्हें इस बात का पता नहीं है कि कोई किसी को मार नहीं सकता और कोई किसी को मरण से बचा नहीं सकता क्योंकि कोई भी किसी अन्य की या अपनी स्वयं की आयु बढ़ा नहीं सकता। उसीप्रकार नोकर्म की स्थिति को भी कोई बढ़ा या घटा नहीं सकता। इस जीव को सब से अधिक आकुलता अपनी या रिश्तेदारों की मौत की आशंका से ही होती है।

नोकर्म के इस ग्रहण और छूटने संबंधी ज्ञान होते ही यह बात समझ में आती है कि शरीर के प्रत्येक परमाणु की स्थिति निश्चित है। प्रतिसमय शरीर के अनंत परमाणु नये आते हैं और अनंत परमाणु छूटकर निकल जाते हैं। वैद्यकीय शास्त्र भी बताता है कि Regeneration और Degeneration निरंतर चालू ही रहता है।

जीव ने आज तक अपना भिन्न अस्तित्व ही नहीं पहचाना। इस नोकर्म पुद्गल को ही उसने `स्व' माना जिसके फलस्वरूप जीव की दुर्दशा होती रही। हमारी प्रत्येक की अनादि से हर एक भव में यही दुर्दैवी कहानी बार-बार होती आयी है। सुनोगी यह करुण कहानी ?

यह जीव कहीं से मरकर यहाँ आया। साथ में लाये उसने दो शरीर, एक कार्माण और दूसरा तेजस शरीर। ये दोनों ही जीव के घनिष्ट साथी हैं। लाखों, करोड़ो वर्षों से वे जीव के साथ चले आ रहे हैं। यहाँ जन्म लेने पर जीव को मिला और एक शरीर। उसका नाम है औदारिक शरीर। यह तो जीव का एक ही भव का साथी है, जन्म से मरण तक ही केवल साथ देता है।

कार्माण और तेजस शरीर को तो इस जीव ने कभी देखा नहीं, उसके देखने में तो यह औदारिक शरीर ही आया। जीव ने अपने आप को कभी न जाना था, न पहचाना था, अपने स्वरूप के बारे में न कभी सुना था। सहज ही इस जीव ने प्राप्त औदारिक शरीर को ही `यह मैं हूँ' मान लिया। इसी को जीव ने अपना सर्वस्व दिया, इसी को स्व माना। जीव ने इसके लिए क्या क्या नहीं किया ?

आहारवर्गणा से बने हुअे इस पुद्गल परमाणुओं के ढेर को - प्राप्त देह को जीव ने अपनी मूर्खता से `आत्मा' यानि `मैं' माना और इस काल्पनिक `मैं' के लिए असली `मैं' अपना अस्तित्व खोकर गुलामी करने लगा। रात दिन इसकी चाकरी, सेवा, इसे खिलाना, पिलाना, नहलाना, सँवारना, सजाना, रंगाना, रोगादि हो तो ड़र जाना, उसी के चिंता में लगे रहना और इसे छोड़कर अन्य भव में जाने का समय आते ही `हाय ! मैं मर गया' मानकर महा दुःखरूप परिणाम करना ऐसी इस जीव की अवस्था हो गयी। जीव के इन मोह, राग, द्वेषरूप परिणामों के कारण नवीन कर्म का बंध होता रहा और कर्मों की सत्ता हमेशा बनी रही।

शरीर का इसमें क्या दोष ? जीव की ही यह मूर्खता है। कर्मों ने इस शरीर को कॉंट्रॅक्ट देकर बुलाया है, वह अपनी मर्जी से थोड़े ही आया है ? उसका कॉंट्रॅक्ट पूरा होते ही वह जीव का साथ छोड़ देता है। कर्म ही है असली सूत्रधार कि जिसके हाथ में रिमोट कंट्रोल है। कर्म इस जीव को कभी दिखाई नहीं दिया क्योंकि वह तो सूक्ष्म है।

जीव निरंतर मोह, राग, द्वेष करता रहता है उसके कारण प्रतिसमय अनंत कर्म परमाणु बंधते हैं, जीव के प्रदेशों में आकर ठहरते हैं, अपना ड़ेरा डालते हैं। पुराने कुछ कर्म अपनी स्थिति पूरी होने पर निकल जाते हैं फिर भी कर्म की सत्ता अविरत बनी रहती है। अनादिकाल से सत्ता में पड़े हुअे कर्म में नित्य नये कर्म परमाणु आ मिलते हैं और उतने ही पुराने परमाणु खिर जाते हैं।

यहाँ कर्म का केवल बंधना और छूटना ही होता रहता तो कोई बात नहीं थी; परंतु जब कर्म जीव को छोड़कर जाने लगते हैं तब वे जीव को भेंट देते हैं- फल देते हैं - किराया देकर जाते हैं। इसे ही हम `कर्म का उदय' कहते हैं। आठ कर्म अपने अपने स्वभाव के अनुसार भिन्न भिन्न फल देते हैं इस बात की चर्चा हम पहले कर चुके हैं।

हे जीव, तुम यदि सोचते हो कि, `कर्म कितने भले हैं जो हमें भेट-फल देकर जाते हैं। देखो, हमारे इस सुंदर शरीर की रचना वे करते हैं, हमें सुख के साधन उपलब्ध कराते हैं' तो मुझे कहना पड़ेगा कि, `हे जीव ! मैं तुझे भोला कहूँ या बुध्दू ! अरे जरा विचार तो कर। कर्म कोई तेरा उपकार नहीं कर रहे। उन्हें तो अपनी सत्ता-अपनी परंपरा बनाये रखनी है। तुम यदि उसके फल में नहीं जुड़ोगे, उसमें हर्ष-विषाद-मोह नहीं करोगे तो नये कर्म भी नहीं बंधेंगे और इसीतरह होते होते कर्म की सत्ता ही नष्ट होगी, कर्म का अभाव होगा और तुम पूर्ण सुखी होंगे।

हे जीव, तेरी मूर्खता देख तो सही ! तू तो अमूर्तिक प्रदेशों का पुंज, प्रसिध्द ज्ञानादि गुणों का धारी, अनादिनिधन वस्तु आप है परंतु इस कर्म-नोकर्मवर्गणा के राशी को तूने स्व मान लिया। नामकर्म ने बड़ी कुशलता से तेरे लिए इस शरीर, इंद्रियादि रूप कारागृह बनाया, आयुकर्म ने विवक्षित काल तक तुझे इस कारागृह में बंदिस्त किया, मोहनीय कर्म ने तुझ पर ऐसी जादू डाली - मोहिनी ड़ाली कि तू उस कारागृह यानि बंदिगृह को ही अपना स्वरूप मानकर बैठा।

इस कारागृह के निर्माण पर तूने हर्षोल्लास मनाया, प्रतिवर्ष इसकी सालगिरह मनायी और इस कारागृह की देखभाल में - उसकी सम्हाल में सारा काल गमाया। इस कारागृह की टूट फूट या खराबी होते देखकर डॉक्टरों को पैसे दे देकर इसकी मरम्मत करायी और इस कारागृह से अन्य कारागृह में जाने का समय आने पर तूने रो-रोकर आकांत कर लिया।

हे जीव ! तू तो ज्ञानमय है, केवलज्ञानस्वभावी है, इस कारागृह से भिन्न है फिर भी इसके छोटे से झरोकों (इंद्रियों) से तुझे बाहर का थोड़ासा ज्ञान हुआ तो उतने ही अल्पज्ञान इतना तूने स्वयं को मान लिया।

यह तो सब पुद्गल का खेल है। `पुद्' यानि जुड़ना और `गल' यानि बिखरना। अपना नाम सार्थक करनेवाला यह पुद्गल मतिहीन, अज्ञानी, अचेतन होते हुए भी अपनी मिलन-गलन रूप क्रिया करता रहता है। हे जीव, तू ही ऐसा मूरख है कि ज्ञानी, चेतन, मतिवाला होते हुअे भी इस पुद्गल के नाच को अपना मानकर कभी हँसता है, तो कभी रोता है। इससे भिन्न अपना अस्तित्व और स्वरूप जानना ही नहीं चाहता-लगता है तूने अपनी बुध्दि कहीं गिरवी रख्खी हो।

हे जीव, तू सोचता होगा कि, `जन्म से मैंने इस शरीर को धारण किया है तो क्यों न मैं इसे अपना मानू ? क्यों न सालगिरह मनाऊँ ?' उसे समझने के लिए नदी का उदाहरण देखेंगे । हमारे गांव की नदी अनेक वर्षों से वैसी की वैसी बहती आ रही है । नदीरूप से तो नदी वही कि वही है परंतु उसमें जो पानी हमने कल देखा था वह आज सेंकड़ो मील दूर बह गया है और आज जो नदी हम देखते हैं उसका पानी अन्य जगह से आया हुआ है। परंतु प्रवाहरूप से पानी का अस्तित्व सदाकाल रहने से हमें वही कि वही नदी दिखाई देती है ।

ठीक इसीतरह जन्म से लेकर आज तक हमें यह मनुष्य शरीर दिखता है । उसमें प्रतिसमय अनंत परमाणु आकर जुड़ते हैं और प्रतिसमय अनंत परमाणु छूटकर निकल जाते हैं । फिर भी वही का वही शरीर सदाकाल है ऐसा हमें भासित होता है ।

हे जीव, इन सब में वही का वही कायम रहनेवाला तो तू स्वयं है । जीव का एक भी गुण कम या ज्यादा नहीं होता या जीव पलटकर पुद्गलरूप परिवर्तित नहीं होता । कोई भी पुद्गल कायम के लिए जीव के साथ बंधता नहीं है । कर्म एवं नोकर्म का प्रत्येक परमाणु अपनी अपनी स्थिति निश्चित करके ही जीव से संबंध स्थापित करता है - बंधता है और अपने कारण से ही अन्यत्र गमन करता है ।

पुद्गल जीव को अपना नहीं मानता क्योंकि उसमें श्रध्दा गुण नहीं है। पुद्गल जीव को अपना या स्व नहीं जानता क्योंकि उसमें ज्ञान गुण नहीं है। पुद्गल जीव में मग्न नहीं होता क्योंकि उसमें चारित्र गुण नहीं है । पुद्गल सुखी या दुःखी नहीं होता क्योंकि उसमें सुख गुण नहीं है । फिर भी उसका अपना अस्तित्व उसके स्वयं के कारण है, उसका परिणमन उसके स्वयं के कारण है । उसका यहाँ से वहाँ आना जाना यानि गमन करना या जीव के साथ क्षेत्रांतर करना उसकी अपनी क्रियावती शक्ति के कारण होता है ।

परंतु यह जीव पुद्गल को अपना या स्व मानता है, वह श्रध्दा गुण के कारण नहीं अपितु श्रध्दा गुण की विपरीत अवस्था के कारण यानि मिथ्यादर्शन के कारण मानता है । जीव पुद्गल को अपना या स्व जानता है उसका जानना ज्ञान गुण के कारण होने पर भी उसका विपरीत जानना मिथ्याज्ञान के कारण होता है । जीव स्वयं ही पुद्गल में मग्न होता है वह उसके चारित्र गुण के विकार के कारण होता है ।

मानना, जानना, मग्न होना ये सारी जीव की विशेषतायें हैं, पुद्गल में वे नहीं पायी जाती। विपरीत मानना, विपरीत जानना और विपरीत श्रध्दा-ज्ञान के साथ पर में मगन होना जीव अपने स्वयं के भूल के कारण करता है तब उस समय मोहनीय कर्म की उदयरूप अवस्था पायी जाती है। इसकारण कर्म पर आरोप देकर उपचार से कहते हैं कि कर्म के कारण विकार हुआ या कर्म ने विकार कराया। ऐसा कथन करना गलत नहीं है परंतु वैसा ही मानने में जीव का अपना ही नुकसान है।

कर्म स्वयं अपनी स्वयं की योग्यता से बंधता है और उदय में आकर फल देता है। उस समय जीव उस कर्मफल में मग्न होता है, उसमें इष्टता-अनिष्टता मानकर मोह, राग, द्वेष करता है। यह जीव की अपनी भूल है। कर्म उसे जोर - जबरदस्ती नहीं करता।

जीव की यह भूल भी उसके स्वयं के कारण से-योग्यता से - सुधरेगी कोई भी कर्म उसमें बाधा नहीं डालता, कोई भी कर्म उसे मदद नहीं करता। जीव ने पुद्गल को स्व माना था, उसे अपने आप को स्व मानना है, जीव ने पुद्गल को स्व जाना था, उसे अपने आप को स्व जानना है और इसी श्रध्दा और ज्ञान के साथ अपने आप में मगन होना है फिर अपने आप में कैसी इष्टता या अनिष्टता ? जब राग द्वेष का कारण ही नहीं रहा तो रागद्वेष भी नहीं होंगे। मोह, राग, द्वेष के निमित्त से नये कर्म आते थे इनके न होने पर कर्म का आना भी रुक जायेगा। इसे ही `संवर' कहते हैं।

हे जीव, जब तुम सयाने हो जाओगे तब कर्म भी अपना साम्राज्य समेटना शुरू करेगा, कर्मों की स्थिति और अनुभाग कम होने लगेंगे। पुराने कर्म अपनी बंधी हुअी स्थिति कम करके जल्दी छूटना प्रारंभ करेंगे इसे ही `निर्जरा' कहते हैं।

हे जीव, तूने बस एक बार अपने आप को जाना, माना, उसमें मगन हुआ तो तुझे अपूर्व आनंद की प्राप्ति होगी। फिर तो तुझे अपने आप को निहारने का-स्वसन्मुख होकर स्वानुभव करने का रस लग जायेगा। अब तुझे

पुद्गल के नाच में कोई रस नहीं रहेगा ।

पुद्गल का तेरे साथ आना जाना अब भी चलता रहेगा, उसे तू जानेगा भी परंतु अब तू उसे अपना नहीं मानेगा । पुद्गल को पुद्गलरूप से जानेगा मानेगा। पुद्गल को देखकर अब तुझे थोडे अंशो में राग द्वेष हो भी जायेंगे परंतु अब तू उन रागद्वेषों का स्वामी नहीं बनेगा, उन्हें भी पररूप से जानेगा, अपने ज्ञान का ज्ञेय बनायेगा, अपने स्वभाव में उनका कोई स्थान नहीं पायेगा ।

हे जीव, आज तक तूने शरीर की क्रिया या शुभाशुभ राग को करने या छोड़ने में ही अपना कर्तव्य माना था, उसीमें धर्म होना माना था । दूसरे शब्दों में कहूँ तो उपवासादि शरीर की क्रिया करने में और पुण्य (शुभभाव) करने में ही तूने धर्म हुआ माना था । अब तो चेत ! जब तुझे अपना स्वरूप समझने की जिज्ञासा जाग्रत होगी तब वह स्वरूप समझानेवाला भी तुझे सहज मिलेगा । तेरी पात्रता ही तेरा मार्ग सुगम कर देगी । अत्यंत रुचिपूर्वक तू अपनी बात सुनेगा - स्वयं का स्वरूप समझेगा तो अवश्य ही तेरे ख्याल में आये बिना रहेगा नहीं ।

कैसा सहज वस्तुस्वरूप है देखो ! ज्ञानी आत्मानुभवी जीव अपने स्वभाव में - शुध्दोपयोग में - टिक नहीं पाता तो उसे दूसरों को स्वभाव के बारे में समझाने का विभाव (शुभभाव) आता है । सामनेवाला यानि सुननेवाला पात्र जीव स्वभाव की रुचि करके स्वभाव का लक्ष्य करता है तब स्वभाव में स्थिर होते ही उसके विभाव का नाश होता है, उसे आत्मानुभव होता है ।

हे जीव ! तू स्वयं समझने का एवं स्वसन्मुखता का पुरुषार्थ करेगा तो ही संवर - निर्जरारूप कार्य प्रकटेगा ओर मोक्ष की ओर तू - अग्रेसर होगा। हे भव्य, यही एकमेव कार्य तू इसी भव में करने का निर्धार कर! तेरा *अविनाशी कल्याण* होगा !!

– तुम्हारी माँ

****

कर्म - नोकर्म निषेकरचना

पत्रांक 5 ॥ ॐ नमः सिध्देभ्यः ॥ 29 जुलाई 1999

प्रिय रीना एवं मोना,

अनेक उत्तम शुभाशीर्वाद ।

तुम्हें पता ही है कि यह लेखमाला मैंने `सन्मति संदेश' पत्रिका में `सुनो अपनी कहानी' शीर्षक के अंतर्गत शुरू की थी । पश्चात् इसे कुछ अलग ढंग से पुस्तकरूप से लिख रही हूँ । मोना, रीना ने जब पत्रांक 4 वाला लेख पढ़ा था तब उस पर उसकी प्रतिक्रिया उसने लेख के पीछे लिखकर व्यक्त की थी । तेरी जानकारी के लिए तुझे बता रही हूँ । उसने लिखा था -

``आखिरी दो पृष्ठ पढ़कर मन गदगद हो गया । तेरे बोल सदैव (पढ़ने के कुछ दिन तक तो) कानों में गूंजते रहते हैं । अंतःकरण की गहराई से कोई बता रहा है कि तू `स्व' को पहचान।

सभी अनुकूल संयोग (उत्तरोत्तर दुर्लभ बातें) प्राप्त हुअे हैं । इस भव में यदि मैंने अपने को न पहचाना तो मेरे जैसा कमनसीब दूसरा कोई नहीं होगा।

तेरे लेखों और प्रवचनों के कारण यह रुचि और ये परिणाम कायम रहे और मैं अपने ध्येय को शीघ्र प्राप्त कर लूँ यही मेरी इच्छा है ।

पुनश्च, मुझे ये जो विकल्प आ रहे हैं वे आस्रव हैं और इनका भी मैं कर्ता नहीं हूँ, ज्ञाता हूँ ।''

इसे पढ़कर मुझे बहुत समाधान हुआ । शास्त्रों का मर्म तुम सही ढंग से आत्मसात कर रही हो इसका पता चला । रीना हर इतवार दादा के क्लास-प्रवचन में आती है । 7 जून 1998 से लघु जैन सिध्दान्त प्रवेशिका के डेढ़ घण्टों के 55 लेक्चर्स हुअे हैं । मोना, तूने ही तो हट किया था कि, `रीया बड़ी होनेपर उसे सिध्दांत प्रवेशिका कौन सिखायेगा ? मेरे खर्चे से ये सारे प्रवचन टेप कीजिये' उसके फलस्वरूप टेपिंग चलता है। इन कैसेटों पर से 20-25 सेट्स तैयार होकर अनेकों के पास पहुंच चुके हैं और लोगों की मांग बढ़ रही है । मोना तेरी इस जिद की वजह से प्रचार प्रसार में बहुत लाभ हुआ है ।

मोना, तू हम दोनों को 10-10, 15-15 दिन औरंगाबाद में बुलाकर तेरे घर पर क्लासेस (प्रवचन) अरेंज करती है, इससे तुम्हारे साथ अन्य 30-40 लोग भी उसका लाभ उठाते हैं ।

इन सभी बातों से पता चलता है कि तुम दोनों को सचमुच ही स्वाध्याय की रुचि लगी है। इतना ही नहीं, समझायी हुई सभी बातों का मर्म तुम ठीक तरह से आत्मसात कर रही हो इस बात का मुझे समाधान है।

हमने अब तक कर्म-नोकर्म का बंध, उसकी स्थिति, उदयकाल और निषेककाल आदि बातें समझी। हमने यह भी देखा कि जीव में जो कर्म, नोकर्म ग्रहण करने की शक्ति है उसे `भावयोग' कहते हैं। उसका कारण है जीव के प्रदेशों का कंपन होना जिसे `द्रव्ययोग' कहते हैं।

जीव कर्म-नोकर्म का ग्रहण करता है। उनसे कार्माण शरीर और नोकर्म शरीर बनते हैं। तुमने सिध्दांत प्रवेशिका में पढ़ा था कि शरीर पांच प्रकार के हैं - औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तेजस और कार्माण शरीर। इनमें से पहले चार शरीरों को `नोकर्मशरीर' कहते हैं। इनमें अपने अपने शरीर नामकर्म प्रकृति का उदय निमित्त है।

कार्माणशरीर की तरह ये चार शरीर आत्मा के गुणों का घात नहीं करते, गति आदिरूप पराधीन भी नहीं बनाते इसलिए उन्हें नोकर्म (अकर्म अथवा ईषत् कर्म) कहते हैं। कार्माणशरीर नामकर्म के उदय में आठ कर्मों का स्कंध होता है, वही कार्माण शरीर है।

कर्म और नोकर्म की अधिक से अधिक यानि उत्कृष्ट स्थिति कितनी बंधती है उसकी हम चर्चा करेंगे। प्रत्येक जीव को हर समय इतनी स्थिति बंधेगी ऐसा नियम नहीं है।

ऊपर बताये हुये पांचों शरीरसंबंधी परमाणु जीव एक समय में ग्रहण करता है उसे `समयप्रबध्द' कहते हैं। परंतु उनमें से प्रत्येक शरीर का समयप्रबध्द भिन्न भिन्न है। औदारिक शरीरसंबंधी समयप्रबध्द सबसे अल्प है और क्रम से उत्तरोत्तर शरीरों के समयप्रबध्द के परमाणुओं की संख्या बहुत अधिक है। उत्तरोत्तर परमाणुओं की संख्या बढती है परंतु उत्तरोत्तर शरीर सूक्ष्म सूक्ष्म होते जाते हैं। औदारिक शरीर स्पर्शनेंद्रिय, रसनेंद्रिय, घ्राणेंद्रिय और चक्षुरिंद्रिय इन चारों इंद्रियों के द्वारा जाना जा सकता है क्योंकि वह स्थूल शरीर है। तेजस शरीर स्पर्शनेंद्रिय और परंतु नहीं चक्षुरिंद्रिय द्वारा जाना/जाता है इसलिए सिध्द होता है कि वह औदारिक शरीर से सूक्ष्म है। तेजस शरीर में औदारिक शरीर की अपेक्षा परमाणुओं की संख्या अधिक है। उससे भी अनंत गुणा परमाणु कार्माण शरीर में होते

हैं फिर भी वह किसी भी इंद्रिय से जाना नहीं जाता। इसलिए कार्माण शरीर सबसे सूक्ष्म है।

मनुष्य और तिर्यंचों के औदारिक शरीर होता है। इसलिए सर्वाधिक आयुवाले मनुष्य और तिर्यंचों में ही औदारिक शरीर की उत्कृष्ट स्थिति पायी जाती है। भोगभूमि के जीवों की उत्कृष्ट आयु 3 पल्य है इसलिए औदारिक शरीर की उत्कृष्ट स्थिति 3 पल्य है। वैक्रियिक शरीर देव और नारकीयों के होता है, उनकी उत्कृष्ट आयु 33 सागर है इसलिए वैक्रियिक शरीर की उत्कृष्ट स्थिति 33 सागर है।

आहारक शरीर की स्थिति अंतर्मुहूर्त है। उसका कारण कह सकोगी ? आहारक शरीर की परिभाषा याद करो। मुनि जब छठवें गुणस्थान में होते हैं तब इस शरीर की रचना होती है। छठवां गुणस्थान है अंतर्मुहूर्त का अर्थात् एक अंतर्मुहूर्त के भीतर आहारक शरीर का बनना, जिनालयादि की वंदना या तीर्थंकर के निकट जाकर वापस लौट आना और उसके परमाणुओं का खिर जाना आदि सभी बातें होती हैं।

तेजस शरीर की उत्कृष्ट स्थिति 66 सागर है। अनेक भवों तक उसका उदयकाल चलता रहता है।

कार्माण शरीर की सामान्यतः उत्कृष्ट स्थिति 70 कोडाकोडी सागर है। विशेष अपेक्षा देखने पर ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अंतराय कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति 30 कोडाकोडी सागर है। उसमें आबाधाकाल 3000 वर्षों का होगा व शेष उदयकाल होगा। मोहनीय कर्म की 70 कोडाकोडी सागर, नाम और गोत्र कर्म की 20 कोडाकोडी सागर और आयु कर्म की उत्कृष्ट स्थिति 33 सागर है। इनमें से आयुकर्म का उदयकाल एक भव तक सीमित होता है और अन्य कर्मों का उदयकाल अनेक भवों तक कायम रह सकता है।

इस पर से एक बात सहज समझ में आ सकती है कि अनिष्ट संयोगों से तंग आकर कुछ लोग आत्मघात कर लेते हैं या दीर्घ रोग से पीडित मनुष्य को 'दयामरण' (?) देने का अपना मत प्रदर्शित करते हैं तब वे एक बात भूल जाते हैं कि कर्म का उदय तो अगले भव में भी रहनेवाला है। आयुकर्म के शेष सब निषेक एक साथ उदीरणा होकर - कदलीघात होकर जीव विषभक्षण, शस्त्रघात आदि से मर गया तो भी उसके असातावेदनीय कर्म का उदय तो अगले भव में भी चलता ही रहेगा।

मिथ्यात्व के कारण और तीव्र कषायों के वश होकर जीव सारासार विचारशक्ति खो देता है और आत्मघात जैसे प्रयत्नों में अति संक्लेश परिणाम करके नरकगति में गमन करता है।

कर्म-नोकर्म के उदयकाल में जो निषेकरचना होती है उसमें पहले समय में खिरनेवाले निषेक से दूसरे समय में खिरनेवाले निषेक में द्रव्य यानि परमाणुओं की संख्या कम होती है। अंतिम निषेक तक यह संख्या क्रम से हीन होती जाती है। उसका सम्पूर्ण गणित तो बहुत विस्तृत और थोडा कठिन है इसलिए समझने के लिए काल्पनिक संख्या में इस निषेकरचना का गणित समझेंगे। इसमें कुछ नये पारिभाषिक शब्द हैं। भविष्य में यदि तुम्हें सम्यग्ज्ञानचंद्रिका (गोम्मटसार ग्रंथ की टीका) पढ़ने का मन होगा तो ये शब्दार्थ कार्यकारी होंगे।

इसमें एक शब्द है `गुणहानि' जिसका अर्थ है गुणित प्रमाण में होनेवाली हानि। क्रम से प्रत्येक निषेक में परमाणुओं की संख्या घटते घटते जब आधी हो जाती है तब उसे `गुणहानि' या एक गुणहानि कहते हैं। एक गुणहानि होने में जो काल लगता है या जितने समय लगते हैं उसे `गुणहानि आयाम' कहते हैं। आयाम का अर्थ काल की लम्बाई होता है।

हमने देखा था कि निषेकों के परमाणुओं की संख्या उत्तरोत्तर हीन होती जाती है और स्थिति के अंतिम समय में अंतिम निषेक खिरता है। उदयकाल के पहले समय से अंतिम समय तक निषेकरचना में कितनी बार गुणहानि होती है अर्थात् परमाणुओं की संख्या आधी, उससे आधी, उससे भी आधी कितनी बार होती है उसे `नानागुणहानि' कहते हैं।

मान लो, किसी कर्म का उदयकाल 48 समयों का है। यदि 8 समयों में एक गुणहानि होगी तो 48 समयों में नाना गुणहानि की संख्या 6 होगी। इसमें गुणहानि आयाम 8 होगा। कर्म के स्थिति में से आबाधाकाल छोड़कर जो शेष रहती है वह `अवशेष स्थिति' या `उदयकाल' है। अभी हम ने 3 शब्द देखे - गुणहानि, गुणहानि आयाम और नाना गुणहानि। जब हम दो गुणहानि कहेंगे तो उसका अर्थ होगा गुणहानि आयाम को दो गुणा करना अर्थात् $8 \times 2 = 16$।

हमने नाना गुणहानि का प्रमाण 6 देखा था। अब अन्योन्याभ्यस्तराशि का प्रमाण निकालने के लिए उतनी बार (6 बार) दो संख्या लिखकर आपस

में गुणा करना । $2 \times 2 \times 2 \times 2 \times 2 \times 2 = 64$ अन्योन्याभ्यस्तराशिका प्रमाण हुआ ।

पहले निषेक से अंतिम निषेक तक के सभी परमाणुओं की संख्या, अर्थात् एक समय में बांधे हुअे विवक्षित कर्म परमाणु की संख्या `सर्वधन' यानि Total कहलाती है । हम सर्वधन 6300 मानेंगे ।

सर्वधन को `अन्योन्याभ्यस्तराशि में 1 कम' इस संख्या से भाग देने पर अंतिम गुणहानि का द्रव्य (परमाणुओं की संख्या) आता है । $6300 \div (64 - 1) = 100$ । अंतिम गुणहानि का द्रव्य 100 है अर्थात् अंतिम गुणहानि में 100 परमाणु खिरते हैं ।

हमनें देखा था कि कुल छह गुणहानि हैं (नाना गुणहानि 6 है) । आखिर की यानि छठवीं गुणहानि में 100 परमाणु, पांचवी में उससे दुगुणा यानि 200, चौथी में 400, तीसरी में 800, दूसरी में 1600 और पहली गुणहानि में 3200 परमाणु होंगे ।

पहली गुणहानि में 3200 परमाणु होंगे यह बात तो ख्याल में आ गयी परंतु यह गुणहानि तो 8 समयों की है और प्रतिसमय निषेकों में परमाणुओं की संख्या घटती जाती है । पहले निषेक में कितने परमाणु होंगे और प्रतिसमय कितनी घट होगी इसे हम अब देखेंगे ।

8 समयों में 3200 परमाणु खिरते हैं अर्थात् सरासर (ॲव्हरेज) प्रतिसमय 400 परमाणु खिरते हैं उसे मध्यधन कहते हैं । 8 समयों में 8 निषेक खिरते हैं इसलिए `गच्छ' 8 हुआ । प्रत्येक निषेक में परमाणुओं की संख्या क्रमशः घटती जाती है । प्रतिनिषेक जो घट होती है उसे `चय' कहते हैं । चय का प्रमाण निकालने के लिए `गच्छ बाद एक' (एक घाटिगच्छ) को 2 से भाग देकर ($\frac{8-1}{2} = \frac{7}{2}$) जो संख्या आयेगी उसे दो गुणहानि में से बाद करना ।

$16 - \frac{7}{2} = \frac{25}{2}$ यानि साढ़े बारह । अब इस संख्या से मध्यधन (सरासरी) को भाग देने पर चय का प्रमाण आता है ।

$$400 \div \frac{25}{2} = 400 \times \frac{2}{25} = 32$$

इसतरह पहले गुणहानि में घट यानि चय का प्रमाण 32 है । चय × दो गुणहानि = पहले निषेक के परमाणुओं की संख्या । 32 × 16 = 512 पहले निषेक के परमाणुओं की संख्या होगी । इसी को जानने के लिए दूसरी भी एक पध्दति है वह इसप्रकार है :

सर्वधन को साधिक डेढ़ गुणहानि से भाग देने पर पहले निषेक के परमाणुओं की संख्या आती है । 6300 ÷ साधिक 12 = 512 । इसे दो गुणहानि से भाग देने पर चय का प्रमाण आता है । 512 ÷ 16 = 32 । यह हुआ पहले गुणहानि का चय ।

निषेकरचना

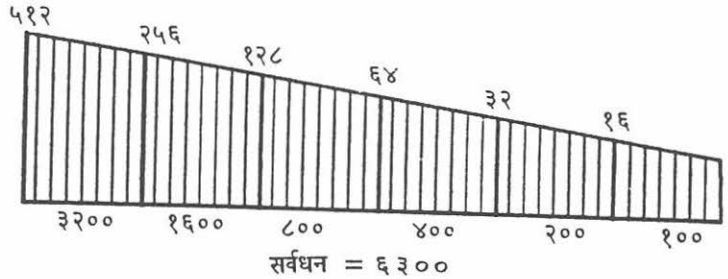

चय का प्रमाण दूसरी गुणहानि में आधा (16) तीसरी में उससे आधा (8) इस तरह उत्तरोत्तर आधा आधा होता है । द्रव्य भी आधा आधा होता है - 3200, 1600, 800 आदि । मैंने तुम्हें समझाने के लिए दाये से बाये रेखायें खींचकर समझाया है । शास्त्र में समझाते समय हमेशा पहला समय नीचे लिखते हैं, दूसरा समय उसके ऊपर और तीसरा उसके ऊपर । निषेकों की इस रचना को त्रिकोण रचना कहते हैं और गोम्मटसार में उसका △ ऐसा चिन्ह बताया है । हमारे अभी के उदाहरण की दृष्टि से हम उसका विचार करते हैं ।

नीचे की सीधी रेषा आबाधाकाल दर्शाती है । इस कालावधी में एक भी परमाणु नहीं खिरता - उदय में नहीं आता । उसके पश्चात् घटती हुअी संख्या में परमाणु उदय में आते हैं ।

निषेकों की त्रिकोण रचना -

इससे एक बात ख्याल में आती है कि जीव एक समय में जो अनंत कर्मपरमाणु या नोकर्म परमाणु ग्रहण करता है उसमें प्रत्येक निषेक की अपनी भिन्न स्थिति होती है। जब हम किसी कर्म की स्थिति बताते हैं तब अंतिम निषेक की वह स्थिति होती है परंतु प्रथम निषेक की स्थिति तो आबाधाकाल से एक समय अधिक होगी।

पांचो ही शरीर के प्रत्येक परमाणु की अपनी अपनी निश्चित स्थिति होती है। इतनी स्वतंत्रता जानते ही मैं शरीर का कर्ता हूँ, मैं मेरी इच्छा से दुबली या मोटी होती हूँ, मैं बच्चों को खिला पिलाकर मोटा करती हूँ ऐसा अपना दुरभिमान कितना व्यर्थ है इस बात का पता चलता है।

हम कितने ही रोगी (मरीज़) देखते हैं तो लगता है ये कुछ ही घण्टों के साथी हैं फिर भी महिनों या सालों तक जीवित रहते हैं। इससे विपरीत कोई हट्टे कट्टे नौजवान बिना किसी वजह क्षणभर में मृत हो जाते हैं। उस समय हमारा लक्ष्य बाह्य अन्य निमित्तों की ओर जाता है, परंतु आयुकर्म की स्थिति और शरीर की (नोकर्म की) स्थिति पूरी होना यही सच्चा निमित्त है और जीव की अपनी योग्यता उपादान है।

निमित्त से कोई भी कार्य नहीं होता यह त्रिवार सत्य है। ज्ञान मात्र उन निमित्तों को जानता है। अज्ञानी की दोहरी भूल होती है। सच्चा निमित्त कौन है इसका भी उसे ज्ञान नहीं है इसलिए उसका ज्ञान झूठा है और निमित्त ने कार्य किया यह उसकी श्रध्दा भी झूठी है।

प्रत्येक कर्म और नोकर्म की अपनी अपनी स्वतंत्र - भिन्न भिन्न निषेकरचना होती है। इतना ही नहीं, प्रत्येक भिन्न भिन्न समयों में बंधे हुअे कर्म-नोकर्म का उदयकाल और निषेकरचना भिन्न भिन्न होती हैं। भिन्न भिन्न अनेक

समयों में बंधे हुअे कर्मों के जिन निषेकों का उदय होगा उन सब का इकट्ठा फल हमें उस विवक्षित समय में प्राप्त होगा। उसमें कभी तीव्र या कभी मंद उदय होता रहता है। कर्म का उदय कभी एक सदृश नहीं रहता इसलिए उसे असमान कहा है।

प्रथमानुयोग की अनेक कथाओं में तथा अपने पहचान के अनेक व्यक्तिओं के जीवन में कर्मोदय के उतार-चढ़ाव हमें दिखायी देते हैं। पुण्य पाप का फल कर्म के उदयानुसार मिलता रहता है। इसलिए अनुकूल संयोगों से अपने को महान और प्रतिकूल संयोंगों से अपने को हीन समझना गलत है। जीव तो इन दोनों ही संयोगों का मात्र ज्ञाता है। देखो मैंने पूर्व में पुण्य किया था इसलिए मैं अभी कितना सुखी हूँ ऐसा जो मानता है, मैं पुण्य करता रहूँ और मुझे अच्छे संयोग मिलते रहे ऐसा जो मानता है वह पुण्य करने लायक है, बंधन करने योग्य है मानता है; यह उसकी बंधतत्त्वसंबंधी विपरीत मान्यता है। जिसकी एक तत्त्वसंबंधी भूल है उसके अभिप्राय में सातों तत्त्वसंबंधी भूल है।

जीव ने शुभभाव करके पुण्य का बड़ा संचय किया हो तो वह उसी रूप में उदय में आयेगा इस भरोसे मत रहना। अभी तक तो हमने मात्र बंध, उदय, सत्ता इन तीन अवस्थाओं का ही ज्ञान किया है। सत्ता में पड़े हुअे कर्मों में भी जीव के परिणामों का निमित्त पाकर उथलपुथल हो जाती है।

जैसे, किसीने लाखों रुपये दान देकर मंदिर बंधवाया हो। कुछ साल बाद उसे गरिबी आयी तब यदि वह सोचेगा कि अरेरे, मैंने व्यर्थ ही इतना पैसा बरबाद किया। आज मेरे पास इतना धन होता तो मुझे ये दिन नहीं देखने पड़ते। इसप्रकार के या अन्य अशुभ भाव करने से पूर्वकृत पुण्य कर्म पापरूप में परिवर्तित हो सकता है, उसे 'संक्रमण' कहते हैं।

कर्मों की ऐसी दस अवस्थाओं का वर्णन शास्त्र में आता है। वे अवस्थायें इस प्रकार हैं - (1) बंध (2) सत्ता (3) उदय (4) उदीरणा (5) उत्कर्षण (6) अपकर्षण (7) संक्रमण (8) उपशम (9) निधत्ति *(10) निकाचित*।

ये दस नाम याद कर लेना, आसान है। छोटे छोटे बहुत से बालकों ने इसे याद करके हमें सुनाया है।

कर्मों के इन विविध नामों से घबराने की कोई बात नहीं है। कर्म की अवस्थायें केवल जीवों के परिणामों के प्रतिबिंब हैं या थर्मामीटर है। जीवों के परिणामों की विचित्रता का ख्याल इन्हें देखने से आता है। जैसे किसी एक ग्रुप फोटो में किसी की आँखें बंद हैं, किसी का मुँह खुला है तो किसी का नाक और भौंअे चढ़ी हुअी हैं। फोटो तो मात्र कागज़ और रंगों की अवस्था है फिर भी फोटो खींचते समय उस व्यक्ति ने अपना चेहरा कैसा रख्खा था इस बात का वह फोटो द्योतक है - बतानेवाला है।

उसीतरह कर्म की विविध अवस्थायें जीव के परिणामों की द्योतक हैं। देखो तो, एक समय में जीव मोह, राग, द्वेष करता है उससे क्या क्या बातें होती हैं ? एक तो जीव उसीसमय दुःखी होता है, क्योंकि मोह, राग, द्वेष यही दुःख का कारण है; दूसरा उन परिणामों के निमित्त से आठों ही कर्म बंधते हैं जो भविष्य में उदय में आकर पुनः जीव को विशिष्ट फल देते हैं। तीसरी बात, उन परिणामों का निमित्त पाकर सत्ता में पड़े हुअे - पूर्व में बंधे हुअे पुराने कर्मों में भी फेरफार होता रहता है।

कर्म के उदय की तरफ देखते रहने से जीव को मोह, राग, द्वेष होते ही रहेंगे और नित्य नये कर्म बंधते रहेंगे। यदि जीव अपना स्वरूप जिनेन्द्र कथित आगमों द्वारा जानकर कर्मों के उदय में न जुड़कर अपने स्वभाव पर लक्ष केंद्रित करेगा, उसीका विचार, चिंतन, मनन और अनुभव करेगा तो उसका मिथ्यात्व नष्ट होगा, राग, द्वेष का आंशिक अभाव होगा। उसके मोक्षमार्ग की शुरुआत होगी। भेदज्ञान और आत्मस्थिरता करते करते यह जीव वीतराग होगा, पश्चात् सर्वज्ञ होगा। उसके बाद शेष कर्म भी खिर जायेंगे - क्षय होगा। नोकर्म भी अपनी स्थिति पूर्ण करके खिर जायेगा और जीव द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म से रहित पूर्ण शुध्द स्वरूप में प्रकट होगा। यही सिध्द अवस्था है।

मैं भी स्वभाव से ऐसा शुध्दात्मा हूँ और पर्याय में भी अल्पकाल में ही सिध्द बनूंगा ऐसा दृढ विश्वास हम रखेंगे। हम अवश्य यशस्वी होंगे।

– तुम्हारी माँ

****

जीव और कर्म की स्वतंत्रता

पत्रांक 6 ॥ ॐ नमः सिध्देभ्यः ॥ 30 जुलाई 1999

प्रिय रीना एवं मोना,

अनेक उत्तम शुभाशीर्वाद ।

बेटीयों, चारों अनुयोगों का सार वीतरागता है । प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग इन चार अनुयोगों का स्वरूप हमने विस्तार से 'पत्रों द्वारा जैनतत्त्व परिचय' में समझा था । उससमय हमने मुख्यतः द्रव्यानुयोग द्वारा वस्तु का स्वरूप समझने का प्रयास किया था । अब हमारा करणानुयोग का विषय चल रहा है ।

कर्म का इतना सूक्ष्म विवेचन, उसकी दस अवस्थायें, उसका बंध और क्षय, कर्म से मुक्त होने की विधि आदि सभी बातें सर्वज्ञ के अलावा अन्य कौन कहने के लिए समर्थ होगा ? ये सारी बातें सर्वज्ञ ने प्रत्यक्ष जानकर बतायी हुअी हैं । किसी ने अपनी कल्पना से इनकी रचना नहीं की है ।

तुम कहोगी, 'ये सारी बातें जानने की क्या आवश्यकता है ? इनमें से गणित, कर्म की अवस्थायें इनसे अनजान व्यक्ति को भी सम्यग्दर्शन तो हो सकता है ।' अरी, आवश्यकता का ही यदि विचार करना हो तो मैं तुम्हें पूछती हूँ कि पेट भरने के लिए 3-4 रोटी और दाल, चावल, सब्जी काफी है । तो फिर रोज विविध खाद्यपदार्थ या पकवान क्यों बनाती हो ? दो जोड़ी कपड़े से हमारी आवश्यकता पूर्ण होती है तो फिर नित्य नये कपडे - नई फॅशन के और विविध रंगों के - क्यों खरीदती हो ? रोज समाचार पत्र क्यों पढ़ती हो ? प्रतिदिन टी.व्ही. क्यों देखती हो ?

मात्र स्वाध्याय के बारे में ही आवश्यकता का यह प्रश्न उठता होगा तो अपनी रुचि कहाँ है इसका अंदाजा आ सकता है । यह प्रश्न हर एक को अपने आप से पूछना है, दूसरों की ओर इशारा करने की जरूरत नहीं है।

बेटी, अपना मन मर्कट की भांति चंचल है । उसे नित्य नया अवलंबन चाहिए । समाचार जानने के लिए हम समाचार पत्र, पत्रिकायें पढ़ते हैं, टी.व्ही. देखते हैं क्योंकि हम अपनी ज्ञानपिपासा कम करना चाहते हैं । कथा-कहानियां पढ़ते समय और टी.व्ही. सिरियल देखते हुअे आगे क्या होगा इसके बारे में हम उत्सुकता से राह देखते हैं, अंदाजा लगाते हैं, उस

पर आपस में चर्चा भी करते हैं। उससमय हमें पता है कि ये सारी बातें काल्पनिक हैं। लेखक की कल्पनाओं में से उभरी हुअी ये कहानियां हैं और टी.व्ही पर भूमिका अदा करनेवाले जो कलाकार हैं, पात्र हैं वे भी इन भूमिकाओं से भिन्न हैं।

फिर भी प्रतिदिन 3-4 घण्टे या अधिक समय उसकी ओर निगाहें थामें पात्रों के सुखदु:खों से समरस होकर हम भी राग द्वेष करते हैं, सुखी-दु:खी होते हैं - सुखी मानते हैं, सच कहो तो दु:खी ही होते हैं। शास्त्र की भाषा में इसे विकथा कहते हैं। प्रमाद का वह एक भेद है। बंध के कारणों में हमने प्रमाद को एक कारण देखा था। परंतु इसकी आवश्यकता क्या है ऐसा सवाल आज तक किसी ने अपने आप से पूछा नहीं होगा। इन अनावश्यक बातों को करने से कर्मबंध का दंड हमें मिलता है इसलिए इसे अनर्थदंड कह सकते हैं। अस्तु, वह विषय दूसरा है।

करणानुयोग पढ़कर भी हमें वीतरागता की ही प्राप्ति करनी है। सामान्य कथन की अपेक्षा कोई भी बात विस्तार से समझाने पर तुरंत समझ में आती है। शास्त्र में कहा है, **'सामान्य शास्त्रतो नूनं विशेषो बलवान भवेत्।'** करणानुयोग पढ़कर वीतरागता प्राप्त करना भी एक कला है।

करणानुयोग का विषय सूक्ष्म है। उसमें मन की एकाग्रता की आवश्यकता होती है। इसमें कुछ गणित तो ऐसे कठिन है कि बुध्दिवंतों को भी पसीना छूट जायें और मति चक्कर में पड़ जाये। परंतु यदि उसे उत्साह के साथ समझने का प्रयास करेंगे तो उपयोग की सूक्ष्मता होती है, विषय अपनी पकड़ में आता है। सम्यक्त्व के कारणों की अपेक्षा से जो भेद बताये हैं उनमें से एक 'बीज सम्यक्त्व' है। करणानुयोग के बीजगणितों को भी सम्यक्त्व का कारण बताया है अर्थात् उपयोग की इस एकाग्रता में से हटकर स्वसन्मुख परिणामों द्वारा सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है।

गुणस्थान, मार्गणा, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा, उपयोग के भेद आदि संबंधी जो यथार्थ और विस्तृत विवेचन जैन आगम में पाया जाता है, वैसा अन्यत्र कहीं भी नहीं है। अन्यमति भी कहता है कि मैं आत्मा हूँ, आत्मा शुद्ध है, अकर्ता है, अभोक्ता है परंतु वे सर्वथा उसे वैसा ही मानते हैं। उसे सुनकर कोई सोचेगा कि अरे अपने शास्त्रों में भी तो ऐसा ही पढ़ा था। परंतु एक बात याद रखो कि जैन शास्त्रों का इसतरह का कथन निश्चयनय का

कथन है और व्यवहारनय के कथन में जीवों के शरीर, इंद्रिय, कर्म, गुणस्थान आदि कितने पाये जाते हैं उसका वर्णन पाया जाता है। अन्यमति इन बातों को जानता नहीं और `ब्रह्म सत् जगत मिथ्या' कहकर परद्रव्यों और पर्यायों का सर्वथा निषेध करता है।

आज कल अनेक लोगों में एक धोकादायक भ्रांति पायी जाती है। टी.व्ही. पर या सार्वजनिक स्थानों में अन्यमतियों के प्रवचनों को सुनते हैं और कहते हैं उसमें से हम अच्छी बातें ग्रहण करेंगे। उसे मात्र सुनने या जानने से अपना नुकसान होनेवाला नहीं है, परंतु जिसे यथार्थ-अयथार्थता की पहचान नहीं है उसके अभिप्राय में उस व्यक्ति और उसके उपदेश के प्रति आदरभाव उत्पन्न होता है और वह फंस सकता है - धोके में आ सकता है। क्योंकि जिसे अपना खोटा माल बेचना हो वह केवल खोटा माल तो दिखायेगा नहीं, सच्चे माल के साथ मिलावट करके ही बेचेगा। जिसे सच्चे झूठे की पहचान नहीं है, उसे तो खोटा माल ही मिलता है अर्थात् उसके विपरीत अभिप्राय का ग्रहण होता है। शास्त्र में इसे `अनायतन' कहा है। कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र और इनके प्रत्येक के सेवक (भक्त) इन छह बातों के प्रति आदरभाव का होना, उनकी स्तुति करना छह अनायतन हैं, दोष हैं। इन दोषों के होते हुअे सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं हो सकती।

स्वरूपानुभव और भेदज्ञान में उपयोग सतत नहीं टिकता। सविकल्प दशा में उपयोग वारंवार पलटता है। उस समय करणानुयोग के अभ्यास से ये सारी विशेष बातें जानने से आत्मगुण अधिक विकसित होता है क्योंकि सत्य बातों का ज्ञान होना ज्ञान का विकास ही है। इससे जीवसंबंधी अपना विश्वास दृढ होता है। जीव और कर्म का विस्तारसहित विवेचन जानने से `स्व' कौन और `पर' कौन इनका स्पष्ट चित्र अपने मनःचक्षु के सामने उभर आता है, भेदज्ञान को पुष्टि मिलती है।

मिथ्यादृष्टि, सम्यदृष्टि, व्रती, मुनि, अरहंत, सिध्द आदि सब का स्वरूप अपने ज्ञान में स्पष्ट रूप से झलकता है। उसके फलस्वरूप स्वयं में निर्णय करने की पात्रता तैयार होती है। अन्य लोगों की ओर देखकर, देखादेखी कोई भी धार्मिक बातें, क्रिया करने की अपनी वृत्ती नष्ट हो जाती है, योग्य-अयोग्यता का निर्णय हो जाता है, दूसरों को दिखाने के लिए या

समाज के भय के कारण कुछ करने की जरूरत नहीं रहती, अपने अभिप्राय की दृढता बढती जाती है, लौकिक तथा पारलौकिक भय नहीं रहता।

देखो, हमने अभी तक जो कुछ पढ़ा उसमें जीव का जीवन और मरण क्या है उसे देखा। जीव कायम रहकर मरण के पश्चात् 1 से 4 समयों में नये पुद्गल परमाणु ग्रहण करके नये शरीर की निर्मिती करता है उसमें विशिष्ट कर्म निमित्त होते हैं आदि बातों का ज्ञान होने पर क्या मरणसंबंधी ड़र कम हुआ ऐसा तुमको नहीं लगता ?

अन्यमति मानते हैं कि मनुष्य कर्म करता है और ईश्वर उसका फल देता है। उनकी ईश्वरसंबंधी मान्यता ही बिलकुल गलत है। शायद उन्होंने ईश्वर को `ऑनररी सुपर सर्व्हंट' का पद बहाल कर दिया हो। तुम पुण्य-पाप करो और ईश्वर उसका हिसाब किताब रखकर तुम्हें फल देगा?

बेटीयों, कर्म की यह सारी व्यवस्था स्वयंचलित है - ऑटोमॅटिक है। जीव के प्रतिसमय के मोह, राग, द्वेषों का नाप इन कर्मों से हो सकता है। खूनी, अपराधी हमारे लौकिक कायदे कानून से छूट सकते हैं परंतु कर्मपाश से नहीं छूट सकते। 1 खून करे या 4 खून करे फांसी तो एकबार ही लगनी है कहनेवालों को कर्म के कायदे कानून का ज्ञान नहीं है। कर्म के इस कानून में भागने के कोई रास्ते नहीं हैं, भ्रष्टाचार नहीं है, रिश्वतखोरी नहीं है।

तुम कहोगी, `अच्छा ? कर्म इतना बलवान होगा तो अब उसकी ही पूजा करनी पड़ेगी। उससे कहना पड़ेगा कि अरे बाबा ! अब तो तू मुझे छोड़ दे।' कोई कहता है, `अज्ञान में ही हम सुखी थे। कर्म का ज्ञान होने से हमें सतत कर्म का भय लगा रहता है।'

अपना स्वरूप ठीक नहीं पहचानने से ऐसे घोटाले होते रहते हैं। इसलिए कर्म की दस अवस्थाओं का स्वरूप देखने से पहले मैं पुनः तुम्हें अपने स्वयं के स्वरूप और सामर्थ्य की याद दिलाना चाहती हूँ। प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि वह निम्नानुसार विचार करके अपने आप को बता दें कि -

``हे जीव ! तू तो चेतन है, अनादिअनंत है, स्वयंसिध्द है - किसीने तुझे उत्पन्न नहीं किया। तू अपने ज्ञानादि अनंत गुणों से परिपूर्ण है ! तू स्वशक्ति के कारण टिका हुआ है और स्वयं की परिणमन शक्ति के कारण

परिणमित भी हो रहा है। अनंत गुणों की प्रत्येक पर्याय अपने ही योग्यता से अपने स्वकाल में उत्पन्न होती है। प्रत्येक द्रव्य अपने पर्यायों का कर्ता है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य की पर्यायों का कर्ता नहीं हो सकता। इससे सिध्द होता है कि स्वभाव परिणमन-शुध्द पर्याय हो अथवा विभाव परिणमन - अशुध्द पर्याय हो, उसका कर्ता वह विवक्षित द्रव्य ही है, अन्य द्रव्य नहीं।

हे जीव, तेरे जाननेरूप पर्याय का कर्ता तू स्वयं ही है। ज्ञेय के कारण यह ज्ञान नहीं हुआ परंतु तेरी अपनी ज्ञान पर्याय की योग्यता से तेरा जानना हो रहा है। तेरे चारित्रगुण की यह जो राग, द्वेषरूप पर्याय हो रही है, उसका कर्ता भी तू स्वयं ही है, कोई भी परद्रव्य तुझे रागद्वेष नहीं कराते। भगवान को देखने से शुभराग हुआ और शत्रु को देखने से द्वेष हुआ ऐसा वस्तु का स्वरूप नहीं है।

हे जीव, तू स्वतः तो अरूपी है परंतु वर्तमान में रूपी पुद्गल को जान रहा है। पांचों ही इंद्रियों द्वारा जाननेवाला तो तू स्वयं है परंतु जानने में आ रहे हैं स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्द। ये तो सभी पुद्गल की पर्यायें हैं इसलिए इनका कर्ता पुद्गल है। परंतु शरीररूप पुद्गलों में `यह मैं हूँ' मानकर तूने एकत्वबुध्दि की है। ये सारी पर्यायें मेरी है मानकर इनमें ममत्वबुध्दि की है। मैं ही इनका कर्ता हूँ मानकर कर्तृत्वबुध्दि की है। पुद्गल की पर्यायों को तू मात्र जान रहा था परंतु मैं इनको भोगता हूँ मानकर तूने भोक्तृत्वबुध्दि की है।

पर पदार्थों में एकत्व, ममत्व, कर्तृत्व एवं भोक्तृत्वरूप तेरी जो विपरीत मान्यता है, यही मिथ्यात्व है - श्रध्दा की विभावपर्याय है। श्रध्दा गुण की यह जो अतत्त्वश्रध्दानरूप पर्याय है वह भी तेरे अपने कारण ही है। कर्म ने तुझे मिथ्यात्वरूप परिणमित नहीं किया। तुझे यदि सम्यक्त्व प्राप्त करना हो, तो वह पर्याय भी तेरे करने से प्रकट होगी। दूसरा कोई भगवान, गुरु, कर्म या निमित्त तुझे सम्यक्त्व प्रदान नहीं करेगा।

हे जीव ! तू जब पुद्गल को जानता है तब जानने का यह कार्य तेरी ज्ञान पर्याय में स्वयं के कारण होता है, पुद्गल के कारण नहीं। इसलिए तू अपने ज्ञानपर्यायों का कर्ता-भोक्ता है, परद्रव्यों का कर्ता-भोक्ता नहीं है।

परद्रव्यों को जानते हुअे तू राग द्वेषरूप भी परिणमित हो रहा है इसलिए राग द्वेष का भी तू कर्ता - भोक्ता है ऐसा कह सकते हैं। वास्तव में इन राग, द्वेषों के कारण तू दुःखी है परंतु परपदार्थों को भोगने के कारण मैं सुखी-दुःखी हो रहा हूँ ऐसा तू मान रहा है वह तेरा अज्ञान और मिथ्यात्व है।

किसी भी परद्रव्य, परजीव, कर्म या निमित्त ने किसी भी जीव को आज तक सुखी या दुःखी किया ही नहीं, राग, द्वेष उत्पन्न कराये ही नहीं। हे जीव! अपनी ही भ्रांति एवं अज्ञान के वश तू दुःखी है। पहले तू परद्रव्यों को सुख-दुःख एवं राग-द्वेष का कारण मानता था। शास्त्र स्वाध्याय करने के उपरांत अब तूने कर्मों को राग, द्वेष का कर्ता और सुख-दुःख का दातार मान लिया।

कर्म ही मुझे संसार में भटका रहे हैं, कर्म ही मुझे मोह, राग, द्वेष उत्पन्न करा रहे हैं, कर्म ही मुझे अज्ञानी बना रहे हैं, वे ही मुझे सम्यक्त्व नहीं होने देते, वे ही मुझे अच्छे संयोग दे रहे हैं, आदि मिथ्या कल्पनायें तूने कर ली। मुझे अच्छे परिणाम करके अच्छे कर्म बांधने हैं क्योंकि वे मुझे अच्छी गति में ले जायेंगे ऐसी मान्यता तूने कर ली।

अरे भाई! तू तो चेतन है। तेरी शुध्द अशुध्द पर्यायें तेरेमें तेरे अपने कारण से हो रही हैं। तेरे परिणामों के समय कर्मों मे जो अवस्थायें बनती हैं, पलटती हैं उनका ज्ञान कराने के लिए शास्त्र में उनका वर्णन आता है। उनसे तेरा निमित्त- नैमित्तिक संबंध है, कर्ता-कर्म संबंध नहीं।

हां, एक बात सच है कि तेरे किन परिणामों के समय कर्म की कौनसी अवस्थायें नियम से होती है इसका ज्ञान कराने हेतु दोनों के नामों में सदृशता है। जैसे, जब जीव की अल्पज्ञानरूप पर्याय उसके स्वयं के कारण प्रकट होती है तब ज्ञानावरण कर्म की क्षयोपशमरूप अवस्था पायी जाती है और इसलिए उस ज्ञान पर्याय को `क्षयोपशम ज्ञान' कहते हैं। जीव जब स्वयं मोह, राग, द्वेष रूप परिणमन करता है तब मोहनीय कर्म की उदयरूप अवस्था पायी जाती है इसलिए जीव के रागादि भावों को `औदयिक भाव' कहते हैं। जीव सर्वप्रथम जब सम्यक्त्व प्राप्त करता है तब कर्मों में दर्शनमोहनीय और अनंतानुबंधी कर्म की उपशमरूप अवस्था पायी जाती है इसलिए जीव के उन भावों को `औपशमिक सम्यक्त्व' कहते हैं।

जीव जब केवलज्ञानरूप पर्याय स्वयं में स्वयं के निजशक्ति से प्रकट करता है तब कर्म में भी उसके अपने कारण से ज्ञानावरण कर्म का क्षय पाया जाता है इसलिए जीव की उस ज्ञानपर्याय को 'क्षायिक ज्ञान' कहते हैं। क्षायिक ज्ञान कर्म के क्षय से उत्पन्न नहीं हुआ, वह तो जीव का स्वयं का भाव है - स्वभाव है। जीव के स्वयं के कारण वह प्रकट हुआ है।

उसीप्रकार हे जीव, तेरा जो वर्तमान का क्षायोपशमिक ज्ञान है - ज्ञान का जो उघाड है - वह कर्म के क्षयोपशम ने उत्पन्न नहीं किया, तेरे अपने कारण- स्वभाव में से ही उत्पन्न हुआ है।

कर्मों की मर्यादा उनमें अपने में क्षयोपशम होने तक ही है, जीव के भावों में वे कोई भी हेरफेर, असर, मदद नहीं करते। जीव भी अपने भाव करने तक ही मर्यादित है। कर्म में वह कुछ भी उथलपुथल, बंध, उदय, उपशम, क्षयोपशम आदि कर ही नहीं सकता। जीव और कर्म दोनों ही एक ही समय में अपने अपने में - स्वयं में - परिणमित होते हैं। जीव के जिन परिणामों के समय कर्म की जो अवस्था नियम से होती ही होती है उस अवस्था के नामानुरूप जीव के भावों को भी वैसे ही नाम बताये गये हैं।

जीव द्रव्य का अस्तित्व किसी भी कर्म के निमित्त से नहीं है, जीव तो स्वयंसिध्द वस्तु है। अनंत गुणमय चैतन्यमय स्वभाव को कर्म की थोडी भी अपेक्षा नहीं है। अनादि से अनंत काल तक जीव स्वयं के स्वभावरूप से कायम एकरूप रहता है, उसीको पारिणामिक भाव कहते हैं। अनंत गुणमय स्वभाव वस्तु के स्वयं के कारण है, है और है - त्रिकाल है, किसी भी कर्म या कर्म के अभाव के कारण नहीं है।

स्वभाव तो ताकद है - कपॅसिटि capacity है। विभाव पर्याय हो या स्वभाव-पर्याय हो यह परिपूर्ण ताकद अनादिअनंत कायम रहती है अर्थात् आदिरहित और अंतरहित सदैव विद्यमान रहती है। उसमें किंचित् मात्र भी हानिवृध्दि नहीं होती। वैसी की वैसी सदैव थी, अब है और भविष्य में रहेगी।

हे जीव ! तेरा स्वभाव अनंतज्ञानमय और अनंतसुखमय है फिर भी तू दुःखी क्यों है ? इसका कभी विचार तूने किया है ? तेरे स्वयं के अज्ञान एवं मोह के कारण होनेवाले राग द्वेषादि विभाव के कारण तथा विभावरूप तू अपने आप को मान रहा है इस कारण तू दुःखी है। तू स्वयं को स्वभावरूप

मान । विश्वास रख, अनंत ज्ञानीयों ने यही बात बतायी है । इसप्रकार के विश्वास के साथ जो जीव अपने स्वरूप का ज्ञान करने लगे, स्वरूप में लीनता करने लगे, उनका मिथ्यात्व और अज्ञान तो दूर हुआ ही, साथ ही साथ उनके रागादिकों की उत्पत्ति कम होती गयी । अज्ञान अवस्था में इष्ट संयोंगो की प्राप्ति में जो हर्ष अनुभव में आता था उनकी अपेक्षा यह स्वभावोत्पन्न सुख जो भिन्न जाति का अपूर्व सुख है उनके अनुभव में आया।

इस सुख का अनुभव करते हुअे, स्वभाव में अधिक से अधिक लीनता करते करते ज्ञानी मोक्षमार्ग पर अग्रेसर हुअे और पूर्णरूप से स्वभाव में लीन रहने पर उन्हें अनंतज्ञान, अनंतसुख आदि की प्राप्ति हुअी । जैसा स्वभाव है वैसा पर्याय में प्रकट हुआ । इसीको `प्राप्त की प्राप्ति हुअी' कहने में आता है ।''

बेटीयों, ये सारी बातें अपने आप को समझानी है । दूसरों को समझाने में हम सब बहुत होशियार होते हैं । मराठी में कहावत है कि `दूसरों को बतायें ब्रम्हज्ञान और स्वयं शुष्क पाषाण'। वैसी हमारी दशा न हो इसलिए यह सावधानी रखना बहुत जरूरी है ।

जीव के भाव और कर्म की उदयादि अन्य अवस्थायें एक ही समय में होती हैं इसलिए जीव के भावों को देखकर कर्म की अवस्थाओं का ज्ञान हो सकता है। उसीतरह कर्मों की कौन सी अवस्थायें हैं देखकर जीव के भावों का ज्ञान हो सकता है । बेहोषी, नींद, विग्रहगति, एकेंद्रियादि पर्याय में राग-द्वेष होते हैं या नहीं ? ऐसा प्रश्न तुम्हें उठ सकता है । तब ऐसा विचार करो कि आठों ही कर्मों का उदय तो निरंतर चलता ही रहता है, एक समय मात्र भी उनका उदय रुकता नहीं है । एतदर्थ उपरोक्त जीवों में भी रागादि औदयिक भाव होते ही रहते हैं यह बात ख्याल में आती है ।

हमें लगता है कि कोई जीव जब शुध्दोपयोग में होगा यानि आत्मध्यान में लीन होगा तब उसके राग-द्वेष नहीं होते होंगे ? पूर्णतः रुक गये होंगे ? परंतु ऐसा नहीं है क्योंकि जब तक मोहनीय कर्म का उदय विद्यमान है तब तक शुध्दोपयोग में भी उस जीव का अबुध्दिपूर्वक रागादिरूप परिणमन चलता ही है। यदि ऐसा न मानेंगे तो सम्यग्दर्शन होते ही जीव पूर्ण वीतरागी बन जाता ! हां, प्राथमिक अभ्यास करनेवालों के लिए इसप्रकार का स्थूल

कथन द्रव्यानुयोगादि में कभी कभी किया जाता है परंतु उसका करणानुयोग के साथ कहीं भी विरोध नहीं है। करणानुयोग द्वारा उसकी सूक्ष्मता जानने पर तो आनंद ही होता है, मोक्षमार्ग का स्वरूप अधिक स्पष्ट होता है।

यहाँ एक महत्व की बात याद रखनी पड़ेगी कि मात्र मोहनीय कर्म का उदय ही जीव के मोह, राग, द्वेष परिणामों को सिध्द कर सकता है। परंतु साता या असाता वेदनीय कर्म का उदय है इसलिए जीव को मोह, राग, द्वेष परिणाम होंगे ही यह बात सत्य नहीं है और वैसा मानना गलत होगा। किसी मुनिराज पर उपसर्ग होता हो तो वह उनके असातावेदनीय कर्म का उदय कह सकते हैं परंतु उस समय आत्मध्यान में लीन होने के कारण उनके अत्यंत अल्प अबुध्दिपूर्वक रागादि विद्यमान होंगे और उसमें उनके चारित्रमोहनीय (संज्वलन कषाय) कर्म का उदय निमित्त होगा।

कर्म और जीव की स्वतंत्रता समझ में आने के बाद अब हम कर्म की कुछ अवस्थाओं को समझेंगे। उनका ज्ञान होने पर कर्मबंधन में से छूटने का मार्ग भी अपने ख्याल में आयेगा। ये बातें समझने पर कर्म बलवान नहीं है, मोक्षमार्ग प्रकट करने में जीव स्वयं ही समर्थ है इस बात का पता चलता है। उसके बारे में आगामी पत्र में चर्चा करूंगी।

– तुम्हारी माँ

****

ॐ

कर्म - उपशम, उदीरणा

पत्रांक 7 ॥ ॐ नमः सिध्देभ्यः ॥ 8 अगस्त 1999

प्रिय रीना एवं मोना,

अनेक उत्तम शुभाशीर्वाद ।

बेटीयों, जीव और कर्म की स्वतंत्रता देखने पर तुमने दो प्रश्न पूछे हैं। पहला प्रश्न है कि `जब इसतरह की स्वतंत्रता है तो फिर कर्म का स्वरूप और उसकी अवस्थायें जानने का प्रयोजन ही क्या है ? हमें केवल जीवसंबंधी ही जानकारी दे दो ना !' दूसरा प्रश्न है कि, `कर्म की बंध, उदय, उदीरणा, उपशम आदि अवस्थायें तो हमने जान ली, तो फिर अब हम कर्म का उपशम करा दें या उदीरणा करा दें या उदय ही रहने दें ?'

पहले प्रश्न का उत्तर प्रथम देखते हैं। जीव ने अनादि से अपना स्वरूप ही पहचाना नहीं। वह जीव निरंतर कर्म के उदय में प्राप्त शरीरादि में आत्मपना यानि एकत्व, संयोग में ममत्व, ज्ञानादिक की हीनता जितने ही अपने ज्ञानादि और रागादि विभाव परिणाम ही अपना स्वभाव मानता आ रहा है। आत्मज्ञानी संत जब उसे उपदेश देते हैं कि, `हे जीव, तू इन सब से भिन्न है, तू स्वयं परमात्मा है, केवलज्ञानादि सामर्थ्य का धारी है;' तब यह जीव हँस देता है, बतानेवाले की मजाक उड़ाता है, विश्वास नहीं करता और कहता है कि ये सारी `हाय लेव्हल' की - ऊंची बातें हमें मत बताना, हमारे बौध्दिक स्तर के अनुसार हमारी लेव्हल की बातें हमें बता दीजिये। इसतरह कैसा उपदेश देना इसकी सलाह वह ज्ञानी को ही देता है।

कर्म का स्वरूप, उसके बंध के हेतु, उसके उदय में होनेवाली जीव की अवस्थायें, कर्मजन्य दुःख आदि बातों का विस्तृत वर्णन सुनने पर उस संबंध में अपनी भ्रामक कल्पनायें नष्ट होती हैं। उस संबंध में अपना अज्ञान दूर होकर अपनी मिथ्या श्रध्दा में परिवर्तन आना प्रारंभ होता है। इन बातों का विश्वास होता है और उसके बारे में गंभीरता से विचार करने के लिए हम उद्युक्त होते हैं।

मूल बात तो अपने स्वरूप का विश्वास करने की थी। शास्त्र में सम्यक्त्व के कारणों की अपेक्षा से जो भेद बतायें हैं उनमें से `आज्ञासम्यक्त्व' नाम का एक भेद बताया है। जिनेंद्र भगवान का उपदेश ही शिरोधार्य है,

त्रिकाल सत्य है ऐसी दृढ श्रध्दावाले सीधे-सादे लोग जिन्हें शास्त्रों की बारीकीयों का पता नहीं है परंतु जिन्हें उस उपदेश पर पूर्ण भरोसा है - ऐसे जीव आत्मसन्मुखता द्वारा सम्यग्दर्शन की प्राप्ति कर लेते हैं।

और भी देखो, आत्मा ज्ञानमय है और ज्ञान का स्वभाव ही जानना है। जो जानता है वह सब कुछ जानता है - स्व को भी जानता है और पर को भी जानता है। कर्म को हम पररूप से जान रहे हैं। यदि हम अपने अभिप्राय में पर को जानने का ही निषेध करेंगे तो हम ज्ञान का स्वरूप ही नष्ट करना चाहते हैं क्योंकि ज्ञान का स्वभाव ही स्वपरप्रकाशक है। जैसे दर्पण का स्वभाव प्रतिबिंबित करना यानि Reflectivity है। यदि मैं तुमसे कहूँ कि तुम मुझे एक दर्पण ला दो परंतु एक शर्त है, वह दर्पण ऐसा होना चाहिए कि उसमें प्रतिबिंब न झलके तो क्या यह संभव है ?

तुम्हारा दूसरा प्रश्न था कि कर्म की कौनसी अवस्था को हम करें ? उपशम करें या क्षय करें ? तुम्हारा प्रश्न सुनकर मुझे प्रश्न उठा कि मैं हँसू या रोऊं ? पूरी रामायण सुनने के बाद कोई पूछता है कि सीता राम की क्या लगती है ? वैसे हुआ। जीव और कर्म की स्वतंत्रता इतने विस्तार के साथ देखने पर उसका तात्पर्य यह था कि जीव कर्म के एक परमाणु को भी पलटा नहीं सकता, दूर नहीं कर सकता, पास ला नहीं सकता। कर्म हो या शरीर हो या अन्य पुद्गल परमाणु हो या अन्य जीव हो या कोई भी अन्य द्रव्य हो; जीव किसी का भी, कभी भी, कुछ भी नहीं करता, कर ही नहीं सकता। कोई भी एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ भी कर नहीं सकता।

कोई रोगी हो तो उसका प्रयोजन है दवाईयां खाकर ठीक होना, स्वस्थ होना। यदि उसे उन दवाईयों के बारे में ज्ञान होगा तो वह दृढ विश्वास के साथ दवाई खायेगा। वैद्यकीय विद्यार्थियों को औषधियों के गुणधर्म, पेट में जाने के बाद उनमें होनेवाली विविध रासायनिक प्रक्रियायें, वह औषधि किस रासायनिक रूप में असर करती है, कितने काल तक उसका असर टिकता है, उस औषधि का शरीर के बाहर विसर्जन किन अवयवों द्वारा होता है आदि सेंकडों बातों का अध्ययन करना पड़ता है। ऐसे जानकर वैद्य को रोग होने पर औषधि खाने का प्रसंग आ जाये तो वह भी मात्र औषधि खाने का ही काम करता है। खाने के बाद औषधि में अब मैं कौनसी रासायनिक प्रक्रिया करूँ ऐसा सवाल उसे नहीं उठता।

उसीप्रकार कर्म की अवस्थाओं का मात्र ज्ञान ही करना है। कर्म की विशिष्ट अवस्था के बारे में चिंता करने की कोई आवश्यकता नहीं है। इन सब अवस्थाओं को जानकर पुरुषार्थ तो स्वयं में ही करना है। पुरुषार्थ करना कोई वजन उठाना नहीं है। स्वयं की स्वतंत्रता का, स्वभाव का ज्ञान करके उसके अनुसार तत्त्वनिर्णय करना यही तो पुरुषार्थ है। कर्म की अवस्थाओं का ज्ञान तो हुआ परंतु यदि यथार्थ तत्त्वनिर्णय नहीं होगा तो जीव हतोत्साह हो जायेगा, घबरा जायेगा। `क्या करें ? दर्शनमोहनीय का उदय है इसलिए मुझे मिथ्यात्व परिणाम होता है' ऐसी उस जीव की मान्यता रहती है। उसे समझना होगा कि जो जीव तत्त्वनिर्णयपूर्वक आत्मा में एकाग्र होता है उसके दर्शनमोहनीय कर्म के उदय का अभाव होकर उपशम हो जाता है - करना नहीं पड़ता।

अनेक लोगों ने निधत्ति और निकाचित कर्मों का हौआ बनाया है। ये तो कर्म की अवस्थायें हैं। उनके बारे में चर्चा हम बाद में करने ही वाले हैं। चूँकि कर्म की अवस्थायें और जीव के परिणाम एक ही समय में होते हैं इसलिए वे एक दूसरे के द्योतक हैं, करनेवाले नहीं है। एक बात और भी है कि तुम्हें और हमें कर्म जब दिखता ही नहीं तो उसकी विशिष्ट अवस्था तुम बदलोगी कैसे?

जो जीव शास्त्राभ्यास, तत्त्वनिर्णय, भेदज्ञान, आत्मसन्मुखता और शुध्दात्मा की भावना करता है उसका दर्शनमोह मंद पड़ता है, सर्व कर्मों की स्थिति घटती है, नवीन बंध कम स्थितिवाला होता है। हमने कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति 70 कोडाकोडी सागर देखी थी वह घटकर अंतःकोडाकोडी सागर यानि 1 कोडाकोडी सागर से कम हो जाती है। यह सब अपने आप होगा। हमें और तुम्हें कर्म में कुछ भी उथलपुथल करनी नहीं पड़ती।

अब चर्चा चल ही रही है तो दर्शनमोहनीय कर्म का उपशम कैसे होता है वह बता दूं। ऊपर कहे अनुसार पुरुषार्थ करनेवाला जीव जब आत्मा में एकाग्र होने का प्रयत्न करता है तब उसे करणलब्धि प्राप्त होती है - वह करणपरिणाम मांडता है - सम्यक्त्व प्राप्ति के पूर्व में प्रकट होनेवाले विशुध्द परिणाम प्रकट करता है तब दर्शनमोहनीय कर्म में भी भगदौड़ मच जाती है। पहले हमने देखा था कि आठों ही कर्मों का उदय सदैव होता रहता है। जब

जीव सर्वप्रथम सम्यक्त्व प्राप्त करने के समय अंतरंग में लीन होता है तब आठ कर्मों में से पहले से मंद पड़े हुअे दर्शनमोह के उदय में क्या घटना घटती है उसे देखते हैं ।

करणलब्धि के परिणाम एक अंतर्मुहूर्त काल तक रहते हैं । उनके निमित्त से उस अंतर्मुहूर्त काल के पश्चात् उदय में आनेवाले मिथ्यात्व कर्म के निषेकों में से कुछ निषेक जल्दी उदय में आकर खिरते हैं और बाकी निषेक भविष्य के निषेकों में जाकर मिलते हैं, इसकारण क्रम से उदय में आनेवाले दर्शनमोह (मिथ्यात्व) कर्म के निषेकों में अंतर पड़ता है - गॅप तैयार होती है । यह अंतर एक अंतर्मुहूर्त काल का होता है और उतने काल तक मिथ्यात्व कर्म का उदय नहीं होता - उपशम हो जाता है इसे `अंतरकरणरूप उपशम' कहते हैं ।

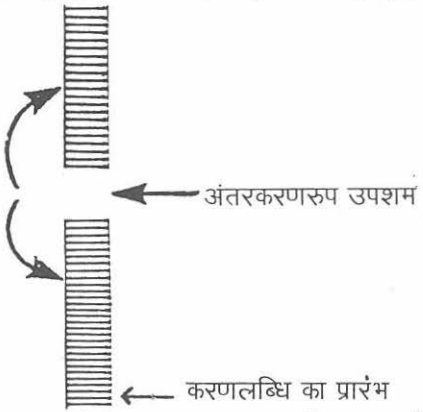

उसीसमय चारित्रमोहनीय का अनंतानुबंधी कर्म भी उदय में नहीं आता, भविष्यकाल में उसके निषेक पड़े रहते हैं, उनका `सदवस्थारूप उपशम' होता है।

अनादि से कर्म का बंध और उदय निरंतर चल रहा था उसमें दरार पड़ जाती है । सभी कर्मों का सरदार मिथ्यात्व नाम का दर्शनमोहनीय कर्म ही सब से पहले शस्त्र ड़ालकर भाग जाता है । इसके लिए जीव को कर्म में क्या करना पड़ा ? कुछ भी तो नहीं ।

जीव जब स्वयं में सम्यक्त्व की पर्याय सर्वप्रथम प्रकट करता है तब सामने दर्शनमोह और अनंतानुबंधी कषाय कर्म का उपशम होता ही होता है। परंतु पहले इनका उपशम हुआ इसलिए जीव को पुरुषार्थ किये बिना ही

सम्यक्त्व प्राप्त हुआ ऐसा कभी भी हो नहीं सकता। कर्म की उपशम अवस्था के कारण इस सम्यक्त्व को `औपशमिक सम्यक्त्व' कहते हैं।

कर्म की उपशम अवस्था मात्र मोहनीय कर्म में ही हो सकती है। उनमें से दर्शनमोहनीय कर्म के उपशम के समय जीव की `औपशमिक सम्यक्त्व' अवस्था होती है और ग्यारहवें गुणस्थान में चारित्रमोहनीय कर्म के उपशम के समय जीव की `औपशमिक चारित्र' अवस्था पायी जाती है। ध्यान रहे, दर्शनमोह का उपशम होने पर भी उससमय अन्य सभी कर्मों का उदय तो निरंतर चलता ही रहता है।

कर्म की दस अवस्थाओं के नाम हमने देखे थे उनमें से बंध, सत्ता और उदय का स्वरूप हमने देखा। उपशम की भी अभी अभी चर्चा की। अब उर्वरित अवस्थाओं के बारे में समझेंगे।

उदीरणा - उदयोन्मुख कर्म जल्दी उदय में आने को `उदीरणा' कहते हैं। उसकी आगमोक्त परिभाषा है – `उदयावलि के बाहर के निषेकों का उदयावलि के निषेकों में आ मिलना और जल्दी उदय में आना `उदीरणा' कहलाता है।' इसका अर्थ बाद में देखेंगे उसके पहले दृष्टांत देकर समझाऊंगी।

मान लो तुम रेल्वे स्टेशन पर टिकट की कतार में खड़ी हो और तुम्हारा पचासवां क्रमांक है। उतने में तुमने देखा कि तुम्हारी सहेली तीसरे क्रमांक पर खड़ी है। उसने भी तुम्हें बुलाकर उसके साथ तुम्हारा भी टिकट निकलवाया। इसका अर्थ यह हुआ कि तुम्हारा निश्चित क्रम छोड़कर तुमने पहले ही नंबर लगाया। उसीप्रकार जिस कर्म का उदयकाल चल रहा हो उस कर्म के निषेक अपनी अपनी निषेकरचना के अनुसार अपनी स्थिति पूरी करके निश्चित क्रम से उदय में आते हैं। जब उस कर्म के कुछ काल बाद उदय में आनेवाले निषेक अपना क्रम छोडकर स्थिति पूरी होने के पहले ही, उदय में आनेवाले अन्य निषेकों के साथ शीघ्र उदय में आकर फल देते हैं तब उसे उदीरणा कहते हैं। उन निषेकों की स्थिति अधिक थी परंतु उतने काल तक न रुककर वे निषेक समय से पहले ही उदय में आये इसलिए उनकी उदीरणा हुअी कहते हैं।

अब हम परिभाषा का अर्थ समझेंगे । उसमें एक शब्द है उदयावलि। `आवलि' काल का नाप है । एक घण्टे में 60 मिनट और 1 मिनट में 60 सेकण्ड होते हैं यह तो सर्व विदित है । एक सेकण्ड में सेंकडों आवलि तथा एक आवलि में असंख्यात समय होते हैं । असंख्यात के भी असंख्यात प्रकार हैं। उनमें से जघन्य युक्तासंख्यात समय एक आवलि में होते हैं ।

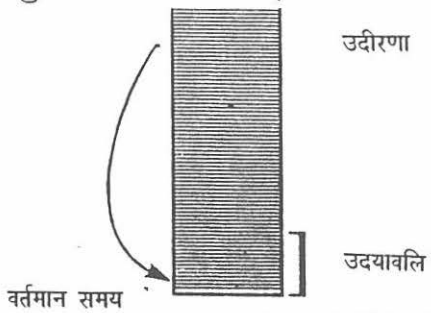

हमने पहले देखा था कि उदय काल में कर्मों की निषेकरचना होती है। प्रतिसमय क्रम से उदय में आनेवाले निषेक एक के ऊपर एक रचित हैं, ऐसी कल्पना करेंगे । वर्तमान में उदय आ रहा निषेक नीचे होगा । वर्तमान समय से लेकर प्रतिसमय एक निषेक इस हिसाब से एक आवलि काल तक उदय में आनेवाले निषेकों को `उदयावलि' कहते हैं ।

उदयावलि के निषेकों का उदय तो क्रम से आता ही रहता है परंतु उदयावलि के बाद उदय में आनेवाले निषेक अपना क्रम छोड़कर उदयावलि के निषेकों के साथ उदय में आते है उसे उदीरणा कहते हैं ।

हमारा नित्य परिचय का उदाहरण देना हो तो हम बच्चों को भोजन करने के लिए बुलाते हैं तब उन्हें भूख नहीं होती । परंतु 4-5 मिनटों में ही बच्चे चिल्लाने लगते हैं कि मम्मी, जोरों से भूख लगी है, जल्दी खाना दो ना ! क्षुधा, तृषा अचानक लगती है क्योंकि असातावेदनीय कर्म की उदीरणा या तीव्र उदय होकर क्षुधादि लगते हैं ।

आयुकर्म की उदीरणा होकर `कदलीघात' होता है, इसका पता है तुम्हें ? कर्मभूमि के मनुष्य और तिर्यंचों में आयु की उदीरणा हो सकती है उसे *`सोपक्रम आयुष्क'* कहते हैं । इसमें भुज्यमान आयु के शेष सभी निषेक जल्दी उदय में आकर सभी खिर जाते हैं, जीव मरण को प्राप्त होता है इसे `अपवर्त' या `कदलीघात' कहते हैं । किसी करोड पूर्व आयुवाले जीव का कदलीघात होकर एक अंतर्मुहूर्त में ही मरण हो सकता है । विषभक्षण,

अकस्मात, पानी में डूबकर, रक्तस्त्राव होकर मृत्यु हो सकती है। हम इसे `अकालमृत्यु' कहते हैं।

देव, नारकी, भोगभूमि के मनुष्य या तिर्यंच, चरमशरीरी (तद्भव मोक्षगामी जीव) इनके आयुकर्म की उदीरणा नहीं हो सकती। उसे `निरुपक्रम आयुष्क' कहते हैं। इसे ही `अनपवर्तआयु' कहते हैं।

तुम पूछोगी कि, `यदि बंधी हुअी निश्चित आयु के पहले मरण हुआ तो क्रमबध्दपर्याय कैसे सिध्द हो सकता है ? ऐसा सवाल उठना सहज है। इसका अर्थ हुआ कि तुम सोचती हो, सिर्फ पढ़ती या सुनती नहीं हो।

क्रमबध्दपर्याय का अर्थ है प्रत्येक द्रव्य की तीनों काल की पर्यायों का क्रम निश्चित है, उसमें कोई भी बदल नहीं हो सकता। जिसप्रकार माला के मोतियों की अपनी अपनी सुनिश्चित जगह है उसीप्रकार प्रत्येक द्रव्य की तीनों काल की सभी अनंत पर्यायों का क्रम सुनिश्चित है - अन्य किसी ने उसे निश्चित किया या कराया नहीं है। विवक्षित पर्याय के बाद विवक्षित पर्याय होने की योग्यतारूप धर्म उसी द्रव्य में विद्यमान है। जिसमें से पर्याय प्रतिसमय उठ रही है ऐसे द्रव्य की ओर देखकर ही पर्यायों का यह क्रम निश्चित है इसका निश्चय हो सकता है। एक ही पर्याय की तरफ देखकर अनेक पर्यायों का क्रम निश्चित नहीं होगा। उसीतरह अन्य द्रव्यों की पर्यायें देखकर इस द्रव्य की पर्यायों का क्रम निश्चित है या नहीं बता नहीं सकेंगे।

अनेक लोग इसी बारे में घोटाला कर देते हैं - उलझन में पड़ते हैं। काल द्रव्य की पर्याय व्यवहारकाल है। उस व्यवहारकाल की ओर देखकर अर्थात् परद्रव्य की पर्याय की ओर देखकर स्व या अन्य द्रव्य की पर्याय होनी है तब होगी, यानि विवक्षित वर्ष के विवक्षित दिन के विवक्षित समय में यह पर्याय होगी ऐसा निष्कर्ष निकालते हैं। पर्याय का काल निश्चित है ऐसा जब कहते हैं तब वह उस द्रव्य का `स्वकाल' है, वह उस द्रव्य में है, व्यवहारकाल में नहीं है।

आज 9 अगस्त 99, सुबह के 11 बजे है। मेरा लिखने का राग जो चारित्रगुणकी विभाव पर्याय है उसका स्वकाल हम दिन में और घंटों में गिनेंगे तो कितनी सारी उलझने निर्माण होगी। यह तो मुंबई का इस जगह का व्यवहारकाल यानि कालद्रव्य का स्वकाल है। तुम्हारी शोभा आण्टी अमरिका में है। वहाँ 9 अगस्त 1999 के सुबह हे 11 बजने में और साढ़े दस घण्टें

बाकी हैं। पृथ्वी के विभिन्न क्षेत्रों में यह वक्त स्थानिक समयानुसार पहले या बाद में होगा। इसलिए मेरी पर्याय व्यवहारकाल में नापने से कोई फायदा नहीं है। मात्र सुबह के 11 बजे कहूँ तो प्रतिदिन ही सुबह 11 बजते हैं, केवल 9 अगस्त कहे तो हर साल 9 अगस्त आता है, 99 साल कहेंगे तो हर सदी में 99 वां साल आता है जैसे 1899, 1999 आदि। 1999 कहेंगे तो ईसवी सन या विक्रम संवत या वीर संवत बताना पड़ेगा। और गहरा विचार करने पर उत्सर्पिणी या अवसर्पिणी बतानी पड़ेगी, इससे भी आगे जाकर विवक्षित कल्पकाल को विचार में लेना पड़ेगा।

विशिष्ट काल में मेरी पर्याय होगी यह तो परद्रव्य सापेक्ष कथन है - काल द्रव्य की पर्याय की अपेक्षा कथन है। परद्रव्यों की ही अपेक्षा विचार में लेनी हो तो अन्य भी अनंत परद्रव्य हैं। जैसे कि, अभी मेरे सामने यह कागज है, यह विशिष्ट शरीर इस समय मेरे संयोग में है, इसके हाथ की विशिष्ट क्रिया (लिखने की) हो रही है, हाथ में पेन की अवस्था ऊपर नीचे हो रही है, उसकी स्याही के परमाणुओं की अवस्था बदल रही है, पेन में से कागज पर उतरकर विशिष्ट आकार में उनकी रचना हो रही है। मेरे मनःचक्षु के सामने तुम दोनों हो, तुम्हें भी समझने की इच्छा है। एक ना दो, इन सब अनंत द्रव्यों की अपनी अपनी विशिष्ट पर्याय इस समय हैं। वे सभी पर्यायें अपने अपने द्रव्य की 'स्वकाल' हैं। एक ही समय में पायी जानेवाली और अनुकूल लगनेवाली अन्य द्रव्य की पर्यायों को निमित्त कहते हैं, उनका ज्ञान कराने के लिए निमित्त का कथन किया जाता है।

परंतु उन्हें निमित्त कहने पर भी मेरी पर्याय अपने स्वकाल में मेरे द्रव्य में हो रही है। निमित्तों की पर्याय निमित्तों का स्वकाल है। प्रत्येक वस्तु अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव में निबध्द है। स्वचतुष्टय का परचतुष्टय के साथ कोई संबंध नहीं है। हमें समझने के लिए यह सारा परद्रव्य सापेक्ष कथन किया जाता है। शास्त्र में अकालमृत्यु शब्द आता है फिर भी मरण की पर्याय का वह स्वकाल ही है, उसका वह स्वकालमरण ही है। काल को छोड़कर अन्य निमित्तों की हम चर्चा करते हैं तब काल नहीं वह अकाल है इस न्याय से हम उसे अकालमरण नाम देते हैं।

कर्म का उदय होगा या उदीरणा, कर्म की अपनी योग्यता है। कर्म की अवस्था यानि पर्याय उसके स्वयं के क्रमनियमित समय में ही होती है। छहों

द्रव्य की सभी पर्यायें क्रमबध्द हैं। ज्ञान उसे पहले ही यानि पर्याय होने से पहले ही जान सकता है, यह ज्ञान की अपनी विशेषता है, ज्ञानपर्याय का वह सामर्थ्य है। ज्ञान ने जाना इसलिए पर्याय को वैसा ही होना पड़ा ऐसी पराधीनता पर्याय में नहीं है। प्रत्येक द्रव्य, गुण और पर्याय अपनी योग्यता से स्वसामर्थ्य से विद्यमान है।

केवली भगवान ने जाना होगा वैसा हमें सम्यग्दर्शन जब होना है तब होगा इसका सच्चा निर्णय काल द्रव्य की पर्याय की ओर देखकर नहीं होगा, केवलज्ञान की एक पर्याय की तरफ देखकर नहीं होगा, अपनी विद्यमान श्रुतज्ञान की पर्याय की तरफ देखकर नहीं होगा परंतु सर्वज्ञस्वरूपी निजशुध्द त्रिकाली भगवान आत्मा को देखकर यानि उसमें लीन होकर - उसकी श्रध्दापूर्वक ही क्रमबध्दपर्याय का यथार्थ निर्णय होगा।

प्रत्येक द्रव्य की तीनों काल की सर्व पर्यायें सर्वज्ञ भगवान केवलज्ञान द्वारा प्रत्यक्ष जानते हैं। हम अपने ज्ञान द्वारा जब भगवान की सर्वज्ञता का निर्णय करते हैं तब उसी में क्रमबध्दपर्याय का निर्णय भी गर्भित होता है। ऐसा नहीं मानेंगे तो सर्वज्ञ शब्द का कोई मतलब ही नहीं रहेगा - सर्वज्ञता ही धोखे में आयेगी। जो सर्वज्ञ का स्वरूप निश्चित करता है उसकी दृष्टि अपने सर्वज्ञ स्वभाव पर गये बिना नहीं रहती। इसलिए यह निश्चित होता है कि सम्यग्दृष्टि जीव को ही क्रमबध्दपर्याय का सच्चा निर्णय होता है।

स्वामीजी ने बारम्बार कहा है कि क्रमबध्दपर्याय का निर्णय करनेवाले जीव की दृष्टि सर्वज्ञ स्वभावी निजपरमात्मा की ओर गये बिना नहीं रहती, अन्यथा क्रमबध्दपर्याय का निर्णय यथार्थ नहीं होता। पर्यायों की क्रमबध्दता का निर्णय पर्याय की तरफ देखने से नहीं होता, स्वद्रव्य की तरफ देखने से होता है। यह अज्ञानी भोला जीव तो परद्रव्यों की पर्यायों की तरफ देखने में दंग है और दिखावे के लिए 'क्रमबध्दपर्याय में है वैसा होगा' कहता है। यह उसका निर्णय यथार्थ नहीं है। उसकी मान्यता में पर्यायों की पराधीनता है। परंतु क्रमबध्दपर्याय का यथार्थ ज्ञान करनेवाला ज्ञानी पर्यायों की स्वतंत्रता को जानता है।

बेटीयों, तुम भी निजशुध्दात्मा की प्रतीतिपूर्वक क्रमबध्दपर्याय का यथार्थ निर्णय करोगी इस बात का मुझे विश्वास है।

– तुम्हारी माँ

****

कर्म की शेष अवस्थायें

पत्रांक 8 ।। ॐ नमः सिध्देभ्यः ।। 10 अगस्त 1999

प्रिय रीना एवं मोना,

अनेक उत्तम शुभाशीर्वाद ।

तुम्हारी करणानुयोग संबंधी रुचि जाग्रत हो रही है देखकर मुझे आनंद हुआ । तुम्हें पता ही है कि गत दो सालों से मैं रोज सुबह 8।। से 10 गोम्मटसार जीवकाण्ड की टीका सम्यग्ज्ञानचंद्रिका भाग-1 पढ़ा रही थी । कल ही ग्रंथ का पढ़ाना पूर्ण हुआ । अरविंदभाई दोशी ने कबूल किया, `भाभी, मैं स्वयं इंजिनीयर, आज तक मैं गणित में स्वयं को बहुत होशियार समझता था । परंतु इस ग्रंथ के गणित मुझे पढ़कर भी समझ में नहीं आते थे । आपने पढ़ाया तो अब समझ में आये ।' अरविंदभाई के निरंतर आग्रह के कारण ही मैंने यह क्लास लेना प्रारंभ किया था । जयपूर शिबिर से लौटनेपर 26 अगस्त से हम दूसरा भाग कर्मकाण्ड सीखना प्रारंभ करेंगे ।

बेटीयों, इसमें से सूक्ष्म विषय और गणित पढ़ाते समय अनेक बार विचार आता है कि तुम दोनों और तुम्हारे समान बुध्दिमान युवा वर्ग सामने बैठकर पढ़ता तो कितना अच्छा होता । तुम्हारे बड़े बड़े कॉम्प्युटर्स और कॅलक्युलेटर्स फेल हो जाये ऐसे तो ये गणित हैं - बुध्दि को चुनौती देनेवाले ! इन गणितों को सुलझाने पर - समझने पर एक निराला ही आनंद आता है ।

अनेकों को यही प्रश्न उठता है कि यह सब जानकर हमें क्या फायदा ? एक तो उससंबंधी अपना अज्ञान दूर होकर जीव, कर्म और अन्य अनेक बातों का स्वरूप स्पष्ट रूपसे हमारी समझ में आता है । इसके अभ्यास से कषायों की मंदता होती है, बुध्दि की प्रखरता बढ़ती है । यह भी एक उच्च प्रति का शुभभाव है और इससे सातिशय पुण्य का बंध होता है ।

कर्मों की अवस्था का जब ज्ञान होने लगता है तब कर्म के संबंध में अज्ञानता वश जो मिथ्याभ्रांति और भीति हुआ करती थी वह नष्ट हो जाती है । सर्वज्ञ भगवंतों ने ये सारी बातें प्रत्यक्ष स्पष्ट जानी है । इनमें से कई बातें अवधिज्ञानी मुनियों के ज्ञान में आती हैं । मुनियों ने आगमग्रंथों में ये सारी बातें विस्तारसहित लिखी हैं, यह हम अज्ञ जनोंपर महान उपकार है । ये ग्रंथ ही हमारे गुरु हैं । नहीं तो आज के इस युग में ज्ञान का यह भंडार हमें

कहाँ से उपलब्ध होता ? कौन हमें पढ़ाता ? इसके जानकार विद्वान होंगे भी, है भी । परंतु हमारे अनुकूल समयानुसार वे हमें पढ़ायें कैसे ?

सत्य महाव्रतधारी मुनियों ने परम्परा से प्राप्त ज्ञान की ग्रंथरूप से लिखित रचना की है । यह परम्परा भी सर्वज्ञ से चली आ रही है । सर्वज्ञ ने भी प्रत्यक्ष जानकर कथन किया है । ये किसी की कल्पनायें नहीं हैं, असत्य तो है ही नहीं। जिन लोगों को तत्त्वज्ञान की रुचि नहीं है, सर्वज्ञ की श्रध्दा नहीं है, सर्वज्ञ का स्वरूप जिन्हें पता नहीं उन लोगों को ये सारी बातें झूठी लगती हैं, उनका इन बातों पर विश्वास नहीं होता ।

हम अपने मन से पूछे कि प्रतिदिन समाचार पत्रों के समाचारों में हम जितना विश्वास रखते हैं क्या उसके कुछ अंशों में भी इन आगमशास्त्रों में विश्वास रखते हैं ? जितनी रुचि से प्रतिदिन दैनिक (न्यूजपेपर) पढ़ते हैं क्या उसके शतांश रुचि से भी शास्त्र पढ़ते हैं ? महिने भर में दैनिक एवं पत्रिकाओं पर जितने रुपये खर्चा करते हैं क्या उतने जिनवाणी खरीदने में खर्चा करते हैं ? उसकी तो बात छोड़ो, रद्दी बेचकर आये हुये रुपयों जितनी रकम भी क्या हम प्रतिमाह जिनवाणी के खरेदीपर लगाते हैं ?

पड़ौसी से पेपर (समाचार पत्र) मांगकर पढ़ने में हम कमी महसूस करते हैं, हमें शरम लगती है । हर एक को अपना पेपर, वह भी सबसे पहले चाहिए । क्या जिनवाणी पढ़ने के लिए इतनी बेचैनी होती है ? कुटुंब के अनेक सदस्यों में एक ग्रंथ काफी लगता है । फुरसद से टर्न बाइ टर्न ग्रंथ पढ़ने की उदारता (?) यह जीव दिखाता है !

एक ही कुटुंब के हर एक सदस्य के कपडे अलग, कपाट अलग, कमरा अलग, बैंक का खाता अलग, धंदा-व्यवसाय स्वतंत्र परंतु ग्रंथ तो सब में मिलकर एक ही काफी लगता है । एक भी हो तो भला कहने की नौबत आयी है ।

अपने ही दोषों का अवलोकन करने के लिए ये सारे प्रश्न उठाये हैं । दुनियाभर के सच्चे-झूठे समाचारों में हमें कितना रस है और स्वयं का स्वरूप समझानेवाले ग्रंथो में हमें कितना रस है इसकी जांच हम अपने में करें । दूसरों के दोष देखने की जरूरत नहीं है ।

'हम तो बहुत प्रयत्न करते हैं परंतु सम्यग्दर्शन नहीं होता । हमारा पुरुषार्थ कम पड़ता होगा ना ?' इस सवाल का एक ही जबाब है, 'तुम्हें अभी रुचि की कमी है' । रुचि अनुयायी वीर्य ऐसा सिध्दांत है ।

बेटीयों, मुझे कुछ समझता नहीं कहकर इस अभ्यास से मुँह मत मोड़ना - विमुख मत होना। शुरू शुरू में कुछ शब्द नये और मुष्किल लगते हैं परंतु बारम्बार सुनने - पढ़ने से हम उनसे परिचित हो जाते हैं। दस बातें बतायी हो तो उनमें से 2-3 तो समझेंगी कि नहीं ? जितना ज्ञान होगा उतना आनंद होगा, तत्त्वज्ञान की विशिष्ट दृष्टि तैयार होगी। लौकिक संकटों की भीति भाग जायेगी। जीवन में अनेक बातों के प्रति होनेवाले तीव्र रागद्वेष के परिणाम ठण्डे पड़ेंगे। मरणसंबंधी भ्रांत कल्पनाओं और भय का निराकरण होगा।

लौकिक शिक्षण के कारण जीवन सुधरा हुआ और सुखावह होता हुआ हम देखते हैं। यह तो लोकोत्तर शिक्षण है। इससे जीवन, मरण और आगामी भव भी सुधरते हैं, सुखावह होते हैं और भव का अभाव होकर मोक्ष की प्राप्ति होती है।

कर्म की दस अवस्थाओं में से हमने बंध, सत्ता, उदय, उदीरणा और उपशम अवस्थाओं की जानकारी ली है। अब शेष अवस्थाओं के बारे में संक्षेप में चर्चा करेंगे। कर्म के बारे में मात्र अल्प परिचय देने का मेरा विचार था परंतु बहुत कुछ लिखा गया। हमें अभी गुणस्थान, मार्गणा आदि जीव की बीस प्ररूपणायें भी संक्षेप में देखनी है।

मैंने तुम्हे पहले ही बताया था कि जीव ने कर्म बांधने के बाद उसका उदय आने तक उसमें उथलपुथल हो सकती है। जिस रूप में कर्म बांधा हो उसी रूप में उदय में आयेगा ऐसा निश्चित कह नहीं सकते। जीव के परिणामों के निमित्त से सत्ता में पडे हुअे कर्मों में बदलाव होते हैं। उनमें से उत्कर्षण और अपकर्षण इन दो अवस्थाओं की हम चर्चा करेंगे।

उत्कर्षण यानि बढ़ना, अपकर्षण यानि कम होना। प्रदेश और प्रकृति में तो हानि-वृध्दि संभव नहीं है। स्थिति और अनुभाग में यह हानिवृध्दि होती है।

जीव के परिणामों के निमित्त से सत्ता में पड़े हुअे कर्मों की स्थिति और *अनुभाग बढ़ना इसे 'उत्कर्षण' कहते हैं।*

जीव के परिणामों के निमित्त से सत्ता में पड़े हुअे कर्मों की स्थिति और अनुभाग कम होना इसे 'अपकर्षण' कहते हैं।

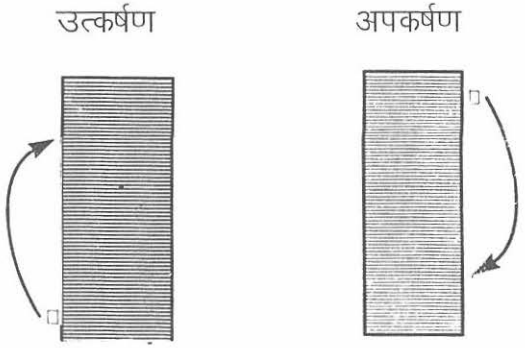

हमने पहले देखा ही था कि शास्त्रश्रवण, तत्त्वचिंतन, तत्त्वनिर्णय, भेदज्ञान के कारण से कर्म की स्थिति घटकर अंतःकोडाकोडी सागर प्रमाण होती है। नया बंध भी कम स्थितिवाला होता है।

मैंने पूर्व में बहुत पाप किया है और उसकारण बहुत पापकर्म बांधे हैं कहकर शोक करते रहना ठीक नहीं है। पूर्व के दुष्कर्मों के कारण पश्चात्ताप होने पर भी उसीके विचारों में अश्रुपात करते रहना उचित नहीं है।

यह हुअी स्थिति और अनुभाग में होनेवाली हानि या वृध्दि। अब प्रकृति में क्या बदल हो सकता है उसे देखेंगे। कोई भी मूलप्रकृति अन्य मूलप्रकृतिरूप हो नहीं सकती। अर्थात् ज्ञानावरण बदलकर दर्शनावरण या अन्य प्रकृतिरूप नहीं होता। मोहनीय कर्म में से दर्शनमोहनीय पलटकर चारित्रमोहनीय नहीं हो सकता । चारों आयु में से एक आयु पलटकर अन्य आयुरूप नहीं हो सकती, मनुष्यायु पलटकर देवायुरूप नहीं होती।

परंतु कुछ कर्मप्रकृति सजातीय अन्य प्रकृतिरूप हो सकती हैं, इसे `संक्रमण' कहते हैं। जीव के विशुध्द परिणामों के निमित्त से पूर्व में बंधे हुअे असातावेदनीय कर्मप्रकृति के परमाणु संक्रमण होकर सातावेदनीयरूप परिणमित होते हैं।

निधत्ति – संक्रमण और उदीरणा के अयोग्य कर्म प्रकृतियों को `निधत्ति' कहते हैं।

निकाचित – संक्रमण, उदीरणा, उत्कर्षण और अपकर्षण के अयोग्य कर्म प्रकृतियों को `निकाचित' कहते हैं। जिस रूप में इन प्रकृतिओं का बंध हुआ था उसी रूप में वे उदय में आती हैं। अर्थात् उनका फल उसी रूप से मिलता है।

अनेक जानकार लोग भी इन निधत्ति - निकाचित कर्मों का हौआ बनाते हैं। ये कर्म हमें भुगतने ही पड़ेंगे, अन्य कोई चारा नहीं कहकर दूसरों को ड़राते हैं। देखो, ये कर्म जीव को पुरुषार्थ करने में बाधा नहीं ड़ालते। हमने सचमुच इन कर्मों को बुरा माना है क्या ? इसका भी विचार करते हैं।

चक्रवर्ती का पद महान पुण्य के उदय में प्राप्त होता है। यह पुण्य इस जाति का है कि उसे भोगना ही पड़ता है। निधत्ति, निकाचित प्रकार का पुण्य भी भोगना ही पडेगा, उसमें से छुटकारा नहीं है। तुम कहोगी, `हाश ! इतना ही होगा ना ? पुण्य भोगना पड़ेगा उसमें हमें कोई आपत्ति नहीं हैं।' देखो तो सही, पापकर्म भोगना ही पड़ेगा कहने पर यह जीव घबरा जाता है और पुण्य कर्म भोगना ही पडेगा कहने पर खुश होता है। इससे सिध्द हुआ कि पुण्यबंध को उसने अच्छा माना। यह उसकी बंधतत्त्वसंबंधी भूल है। जिसकी एक भी तत्त्वसंबंधी भूल रहेगी उसकी सातों ही तत्त्वसंबंधी भूल होती है।

हमारी मनुष्यायु पलटकर तिर्यंचायु नहीं होती यह अच्छा है कि बुरा ? आयुकर्म की उदीरणा यानि कदलीघात होकर जल्दी मरण नहीं होता इसे हमने अच्छा माना या बुरा ?

इसलिए किसी भी सुनी हुअी बात पर अंधविश्वास न रखना परंतु ग्रंथों के आधार से - शास्त्रों के कथन के आधार से - उस उक्ति का सच्चा अर्थ समझना चाहिए। अब तुम्हें ग्रंथों के आधार से अध्ययन करना सीखना होगा। हमारा यह पत्ररूप स्वाध्याय तो तुम्हें रुचि उत्पन्न कराने हेतु बताया हुआ नमुना है, सँपल है।

कर्म की ये दस अवस्थायें जानने के बाद तुम्हें सवाल उठेगा कि `शास्त्र में तो कर्म का क्षय या क्षयोपशम होता है ऐसा कथन बारम्बार आता है, परंतु इन दस अवस्थाओं में तो उनका नामोल्लेख भी नहीं है ?'

सुनो, कर्म का क्षय होना इसका अर्थ है कर्म का अकर्मरूप होना। कार्माणवर्गणाओं से कर्म बनता है। कर्मरूप अवस्था पलटकर यह कर्म पुनः कर्माणवर्गणारूप या अन्य पुद्गलरूप होता है तब उस कर्म का नाश हुआ कहते हैं। अर्थात् कर्म का उदय होने पर वह अपनी कर्मरूप अवस्था बदलकर कर्माणवर्गणारूप होता है। ये वर्गणायें वहींपर जीवप्रदेशों में पड़ी रहती हैं या अन्यत्र जाती हैं परंतु अब उनका जीव के साथ कोई निमित्त नैमित्तिक संबंध नहीं बनता।

जब किसी भी कर्म प्रकृति का सत्ता में से पूर्ण नाश होता है तब उसे क्षय कहते हैं। इसलिए कर्म की उदय अवस्था में क्षय अंतर्गत है।

कर्म की निर्जरा हुअी ऐसा कथन भी बारम्बार पढ़ने में आया है। उसका अर्थ देखते हैं। कर्म की स्थिति पूरी होने पर कर्म खिर जाता है परंतु उसीसमय उसका फल जीव को प्राप्त होता है, इसे `उदय' कहते हैं। जीव उसमें सुखी या दुःखी होता है तब उसे कर्म का उदय (अनुभाग उदय) कहते हैं। परंतु यदि जीव उसमें न जुड़कर शुध्दोपयोग में रहा तो उसने कर्म के फल को स्वीकारा नहीं इसलिए अनुभाग उदय हुआ नहीं परंतु स्थितिउदय, प्रकृतिउदय और प्रदेशउदय तो हुआ, कर्म अकर्मरूप हो गया इसलिए इसे `निर्जरा' कहते हैं।

कुछ लोग दुःख के प्रसंग में शांतिपूर्वक दुःख सहन करते हैं, उसमें त्रसित नहीं होते - शोक विलापादि नहीं करते। इसे `अकाम निर्जरा' कहते हैं। निर्जरा तो हुअी परंतु मोक्षमार्ग में यह कुछ काम की नहीं है इसलिए यह अकाम निर्जरा कहलाती है। परंतु आत्मलीनता द्वारा अर्थात् शुध्दोपयोग द्वारा जो निर्जरा होती है वह संवरपूर्वक की निर्जरा है, इसे `सकाम निर्जरा' कहते हैं। संवर और निर्जरा दोनों को मोक्षमार्ग कहा हैं।

निर्जरा अन्य दो प्रकार से भी कही जाती है - सविपाक निर्जरा और अविपाक निर्जरा। विपाक यानि कर्म का फल। अनुभाग उदय होकर अर्थात् फल देकर कर्म की निर्जरा होना `सविपाक निर्जरा' है और फल दिये बिना ही कर्म का खिर जाना `अविपाक निर्जरा' है। अविपाक निर्जरा और सकाम निर्जरा समानार्थी हैं।

अब सवाल है क्षयोपशम क्या हैं ? इसमें कर्म की तीन अवस्थायें गर्भित हैं - क्षय, उपशम और उदय। उदय का न होना अर्थात् उदय का अभाव क्षय कहलाता है। कर्म का उदीरणा होकर उदय में न आना - सत्ता में पड़ा रहना उपशम हैं। पूर्ण आवरण डालनेवाली यानि सर्वघाति प्रकृतियों का वर्तमान काल में उदय न होना, भविष्यकाल में यानि सत्ता में पड़े रहना और उनका देशघाति प्रकृतिरूप से उदय में आना `क्षयोपशम' कहलाता है। ज्ञान, दर्शन, वीर्य का घात करनेवाले ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अंतराय कर्म

का क्षयोपशम होता है अर्थात् ये कर्म उन गुणों का पूर्णरूप से घात नहीं कर सकते - उनपर पूर्ण आवरण नहीं डाल सकते । कुछ प्रमाण में तो ये गुण पर्याय में प्रकट होते ही हैं ।

कर्म में उदय, उपशम, क्षयोपशम और क्षय अवस्थायें होती हैं उसी समय जीव के जो भाव होते हैं उन्हें अनुक्रम से औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक भाव कहते हैं । जीव का परिणमन जीव में और कर्म का परिणमन कर्म में होता है इसे हमने पहले विस्तार से देखा ही है ।

कर्म की किसी भी अपेक्षा से रहित ऐसा जो जीव का भाव है, उसे 'पारिणामिक भाव' कहते हैं । इस परमपारिणामिक भाव के आश्रय से अर्थात् इसी में 'मैं' पना स्थापित करके, इसी को ज्ञान का ज्ञेय, श्रद्धा का श्रध्देय और ध्यान का ध्येय बनाने पर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है । उसमें स्थिरता द्वारा मोक्षमार्ग पर अग्रेसर होकर पूर्ण स्थिरता द्वारा सर्व कर्मों का क्षय होकर निष्कर्म मोक्षदशा की प्राप्ति होती है । जीव पर्याय में पूर्ण शुध्द स्वरूप में विराजमान होता है ।

कर्म का अभाव होने के बाद नोकर्म या भावकर्म होने का सवाल ही नहीं उठता । इसलिए अनंत काल तक यह जीव शुद्ध स्वरूप में यानि सिध्द अवस्था में अनंत अव्याबाध सुख का आस्वाद लेता रहता है ।

बेटीयों, कर्मसंबंधी अज्ञान है तब तक कर्म बलवान है ऐसी भ्रांति होती है परंतु उनकी अवस्थाओं का ज्ञान होने पर समझ में आता है कि जीव ही बलवान है । अनादि से मैंने अनंतानंत कार्माण वर्गणाओं का ग्रहण किया और छोड़ा परंतु मेरे स्वभाव में यत्किंचित् भी फरक नहीं पड़ा। मैं तो स्वयंसिध्द अकृत्रिम, परिपूर्ण सदैव ज्ञानदर्शनमय विराजमान हूँ ।

बेटीयों, कर्म की अवस्थाओं का ज्ञान करके कर्मनिरपेक्ष ऐसे स्वयं के परमपारिणामिक भाव का - स्वभाव का आश्रय लेकर हम भी द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्मरहित सिध्द अवस्था शीघ्रातिशीघ्र प्राप्त करेंगे इस मंगल भावना के साथ अब यह कर्मपुराण यहीं समाप्त कर रहीं हूँ।

– तुम्हारी माँ

****

गुणस्थानादि जानने का प्रयोजन

पत्रांक 9 ॥ ॐ नमः सिध्देभ्यः ॥ 28 अगस्त 1999

प्रिय रीना एवं मोना,

अनेक उत्तम शुभाशीर्वाद ।

हम दोनों जयपूर शिबिर से 25 अगस्त को लौटे । शिबिर के कारण कुछ दिन पत्र लिखना नहीं हुआ । फिर भी मेरा चिंतन, मनन हमेशा की तरह चलता ही रहता है । भेदज्ञान के साथ साथ मैं अपने स्वयं के दोषों का अवलोकन करने का प्रयत्न करती हूँ । `हे जीव' कहकर अपने आप को संबोधन करके मैं स्वयं को ही अनेक बातें सिखाती हूँ । उनमें से कुछ विचार यहाँ लिखती हूँ। तुम भी उस पर विचार करोगी ऐसी मुझे आशा है । तुम्हारी ओर भी `मेरी बेटीयाँ' इस दृष्टि से न देखकर `जीव' की दृष्टि से देखकर मैं यह संबोधन कर रहीं हूँ ।

`हे जीव ! तू तो ज्ञान और आनंद का घनपिंड है फिर भी तू दुःखी क्यों है ? क्या इसका कभी तूने विचार किया है ? दूसरों के संयोगों प्रति देखकर तूने भी संयोगों को इकट्ठा करने में प्राप्त आयुष्य खो दिया, फिर भी तू आकुलित ही रह गया । यह आकुलता ही दुःख है । यह दुःख रागद्वेषादि शुभाशुभ भावों के कारण ही है । तेरा स्वभाव तो त्रिकाल ज्ञान और आनंद स्वरूप है । इसकारण यदि तेरा प्राप्त ज्ञान स्वभाव को जानने में लीन होगा तो उसमें अवश्य आनंद की अनुभूति होगी । परंतु वही ज्ञान यदि शुभाशुभ भावों को जानने में अटका रहा तो उनका दुःखरूप वेदन करेगा ।'

तुम कहोगी, `क्या करें ? हमें तो स्वयं का ज्ञान नहीं है ।'

`हे ज्ञायक ! सम्पूर्ण विश्व को जाननेवाली सर्वज्ञ शक्ति से युक्त हे जीव ! मैं स्वयं को ही जान नहीं सकता ऐसा तेरा कथन तुझे हास्यास्पद नहीं लगता ? तुझे दुनिया को जानने में रस है; रुचि है इसलिए एक क्षणभर भी तू स्वयं की ओर मुड़ने का प्रयास भी नहीं कर रहा । तेरी प्रत्येक समय की ज्ञान पर्याय तेरे स्वयं में हो रही है - तेरे सर्व असंख्यात प्रदेशों में हो रही है परंतु तुझे ज्ञायक का यानि जाननेवाले का भरोसा नहीं है । मात्र ज्ञेय का ही भरोसा है । ज्ञेय से ही मुझे ज्ञान हो रहा है मानकर परज्ञेयों की तरफ ही तू आशाभरी निगाहों से ताक रहा है । तेरा यह पागलपन तू कब छोड़ेगा ?

तूने सच्चे देव, गुरु, शास्त्र का आश्रय लिया वह बहुत अच्छी बात है परंतु तू वहीं पर अटका रहा। देव, गुरु और शास्त्र से तुझे उपदेश मिला कि 'तू स्वयं भगवान है - अपनी ओर देख'। परंतु तू ऐसा भोला निकला कि उनकी ओर ही देखता रहा, शास्त्र में से ज्ञान प्राप्त होता है मानकर उसीमें संतुष्ट होकर बैठ गया। मैं 25-30 सालों से शास्त्राभ्यास कर रहा हूँ कहकर बड़प्पन दिखाने लगा।

शास्त्र में से आत्मा की यानि स्वयं की महिमा सुनकर अपने स्वयं की ओर मुड़ना छोडकर तूने दूसरों को आत्मा की महिमा सुनाना प्रारंभ किया। इसतरह सुननेवालों और सुनानेवालों की फौज तैयार हुअी। प्रचार प्रसार करने में तू इतना मग्न हुआ कि इसी को तूने अपने दुर्लभ मनुष्यपर्याय की इतिकर्तव्यता मान ली। लोगों ने भी तुझे अभिनंदन पत्र बहाल कर दिए और तू गुब्बारे की तरह मान कषाय से फूलकर अपने को बड़ा मानने लगा।

इसमें एक छोटी सी (?) कमी इतनी ही रह गयी कि जिस आत्मा की महिमा तू गुणगान करके दूसरों को सुना रहा था वह आत्मा मैं स्वयं ही हूँ ऐसा सच्चे अंतःकरण से तूने मानना चाहिए था। यदि तू ऐसा मानता तो तेरा उपयोग बिना किसी के सिखायें, स्वसन्मुख हो जाता, तू स्वयं को ज्ञायकरूप में पहचान लेता और उसी क्षण तेरे आनंद का भंडार खुल जाता।

उसके पश्चात् भी तेरा सीखना-सीखाना चलता ही रहता परंतु अब तू उसे अपना कर्तव्य नहीं मानता, उसमें तेरी कर्तृत्वबुध्दि-कर्तव्यबुध्दि नष्ट हो जाती, आकुलता कम हो जाती।'

बेटीयों, गुणस्थान, मार्गणास्थान आदि संबंधी थोडासा तो ज्ञान आवश्यक है। अध्यात्मग्रंथों के अध्ययन से द्रव्यानुयोग जानना तो अतिआवश्यक है ही परंतु उसे पढ़नेवाला यदि करणानुयोग का निषेध कर रहा होगा तो ऐसे द्रव्यानुयोग के पक्षपाती व्यक्ति को पं. टोडरमलजी ने 'हे सूक्ष्माभासबुध्दि' कहकर संबोधित किया है।

ऐसे जीवों को उद्देशित करके कहने की इच्छा होती है कि, 'समयसार तो तूने पढ़ ड़ाला। गुणस्थान-मार्गणास्थान मैं नहीं हूँ, मैं तो एक ज्ञायकभाव हूँ - ऐसा बतानेवाली गाथा भी तूने याद कर ली। तुझे यदि कोई पूछे कि ये गुणस्थान-मार्गणास्थान क्या बला हैं कि जिनसे तू भिन्न हैं ?' तो तू कहेगा,

'कौन जाने ? मैं तो द्रव्यदृष्टिवाला हूँ। करणानुयोग से मुझे कोई प्रयोजन नहीं हैं।' हे जीव ! यदि तेरी ऐसी मान्यता होगी तो तू स्वयं को ही ठगा रहा है। तुझे इनके स्वरूप का ही पता नहीं है तो तू कैसे कह सकता है कि तू इनसे भिन्न है ?'

सम्पूर्ण जिनवाणी चार अनुयोगों में रचित है, विभाजित है और चारों ही अनुयोगों का सार वीतरागता है। किसी भी अनुयोग का निषेध करना जिनवाणी का निषेध होगा और जिनवाणी का निषेध करना जिनेंद्र भगवान का निषेध होगा। जो सर्वज्ञ का निषेध करता है वह सर्वज्ञस्वरूपी निजशुध्दात्मा का निषेध करता है। स्वयं के अस्तित्व का ही निषेध करनेवाला जीव धर्म कैसे प्रकट कर सकता है ?

जिनवाणी तो स्याद्वाद मुद्रित है अर्थात् भिन्न भिन्न अपेक्षाओं से वस्तु का वर्णन करके इसतरह हमें समझाने में आता है कि हम कहीं कुछ गफलत नहीं करें।

शास्त्र में कर्म, गुणस्थान, मार्गणा आदि का ज्ञान हमें कराया है क्योंकि उसे जानने से जीव के संयोग में रहनेवाले अन्य द्रव्यों का, निमित्तों का, जीव के विभिन्न पर्यायों का यथार्थ ज्ञान हमें होता है। जीव और कर्मादि परद्रव्यों की भिन्नता इससे स्पष्ट रूप से ख्याल में आती है। परंतु जो जीव इन सब शास्त्रों को निरर्थक मानता है और मात्र मैं शुध्द-बुध्द, ज्ञाता-दृष्टा हूँ कहता रहता है उसका मत वेदांत जैसा एकांती होगा। वेदांत में भी आत्मा अनादिअनंत, अविनाशी, ज्ञातादृष्टा, अकर्ता-अभोक्ता है ऐसा प्रतिपादन किया है। परंतु वे आत्मा को सर्वथा वैसा ही मानते हैं। आत्मा सत् है और जगत के अन्य सभी पदार्थ असत् हैं - भ्रम है - माया है ऐसा उनका मत है। वे पर्याय को मानते ही नहीं हैं।

धर्म और मोक्ष प्रकट करने का कार्य तो पर्याय में होता है। पर्याय को ही नहीं मानेंगे तो उपदेश भी क्या काम का ? अपनी अवस्था यानि भूमिका पहचाननेवाला जीव ही ऊपर की भूमिका में जाने का प्रयास करेगा। इसलिए जीव की पर्यायों और संयोगों का ज्ञान करना आवश्यक है।

जीव क्या है, अन्य द्रव्य क्या है आदि स्व तथा परसंबंधी नितांत अज्ञानी जीव को सर्वप्रथम जीव की पहचान कराने के लिए परद्रव्यों की सापेक्षता से समझाते हैं। मनुष्यदेहधारी जीव, पांच इंद्रियवाला जीव,

त्रसकायिक जीव आदि कथन द्वारा जीव जिन संयोगों में पाये जाते हैं उनका ज्ञान कराके जीवों का अस्तित्व और स्थान निश्चित किया जाता है। जीव का जीवपना-जीवत्व कायम टिकने के लिए उसे देह, इंद्रियां, कर्म आदि किसी भी परद्रव्य की किंचित् मात्र भी अपेक्षा या आवश्यकता नहीं है। परंतु समझने और समझाने के लिए दृश्य बातों का अर्थात् पुद्गलों, परपदार्थों और रागादिकों का स्वरूप बताया जाता है क्योंकि वे बातें हमारे परिचय की हैं - अनुभव की हैं। उनके द्वारा जीवों का अनुमान कराया जाता है।

एक माँ अपने बेटे से कहती है कि, `जा रे बेटा, रसोईघर से नमक ले आ'। नमक कैसा होता है इस बात की जानकारी बच्चे को नहीं थी और वह कहाँ रख्खा है इसका भी उसे पता नहीं था। उसे यदि कहते कि नमक नमक जैसा है, नमक नमक में है तो वह कुछ समझता नहीं। इसलिए माँ उससे कहती है कि, `बेटा, रसोईघर में जा और सामनेवाली अलमारी खोल। उसमें नीचे की पटिये पर दाहिने कोने में कांच की बरणी है उसमें नमक है। वह सफ़ेद है। पर देख, उसके बगलवाली बरणी में नमक जैसी सफ़ेद चीज़ है वह पीसी हुअी शक्कर है। नमक चखकर देख वह खारा होता है।'

बालक ठीक तरह से समझ गया और उसने नमक ढूंढ निकाला। जब उसे नमक मिल गया और नमक-नमक ही है ऐसा उसने लक्षणों द्वारा पहचान लिया तब उसके ख्याल में एक बात आयी कि नमक तो नमक में ही है, बरणी, पटिया, अलमारी, रसोईघर सब कुछ अपनी अपनी जगह पर हैं परंतु नमक की प्राप्ति होने पर अब उनसे कुछ प्रयोजन रहा नहीं। नमक का स्थान निश्चित करने के लिए उन्हें जानना जरूरी था-प्रयोजनभूत था; अब उन्हें जानते रहने की कोई आवश्यकता नहीं रही।

प्रयोजन तो नमक को जानने का था। नमक को जाना और पहचाना तो ही अन्य चीजों का जानना कार्यकारी होगा। परंतु यदि अन्य सभी चीजों को जाना पर नमक को ही नहीं जाना तो अन्य चीजों का ज्ञान कुछ कार्यकारी नहीं है।

उसीप्रकार जिनवाणी माता अज्ञ जीवों को उनकी स्वयं की अर्थात् जीव की पहचान कराने के लिए सर्वप्रथम जीव को खोजने के लिए चौदह मार्गणा

और बीस प्ररूपणाओं का विस्तृत वर्णन करती है। गुणस्थान, जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा, उपयोग और चौदह मार्गणा इसतरह बीस प्ररूपणा हैं। इसमें परद्रव्यों के सापेक्ष कथन है ही, जीव की अवस्थाओं का भी वर्णन है। इनके द्वारा जीव की सत्ता निश्चित करने के बाद लक्षण द्वारा शुध्द जीव स्वरूप का अर्थात् निजशुध्दात्मा का अनुभव करने का उपदेश दिया जाता है।

यदि जीव ने गुणस्थान मार्गणास्थान आदि जानकर पश्चात् उनका लक्ष्य छोड़कर स्वयं को जाना तो ही उपरोक्त सभी बातें जानना कार्यकारी होगा, सार्थक होगा। तुम पूछोगी, `इन सब का लक्ष्य छोड़ना ही था तो प्रथम इनका लक्ष्य करवाया ही क्यों ? हम पहले से ही इन्हें जानना छोड़ देंगे।'

जिनका व्यवहारज्ञान जिनमतानुसार यथार्थ नहीं है उन्हें निश्चय जीवसंबंधी ज्ञान यथार्थ होने की जरा भी संभावना नहीं है। सम्यग्दृष्टि जीव को भी करणानुयोग के अभ्यास से इन विषयों का विस्तारपूर्वक ज्ञान होने से श्रध्दा सुदृढ होने में मदद होती है।

हम देखते हैं कि लोगों के अज्ञान का लाभ उठाकर समाज में अनेक प्रकार की भोंदूगिरी चलती है। गृहस्थावस्था में रहकर अपने को आचार्य और भगवान कहलानेवाले महाभाग भी पाये जाते हैं। गुणस्थानों के अभ्यास से मोक्षमार्ग का स्वरूप, देव और गुरु का स्वरूप स्पष्टरूप से अपने ज्ञान में आता है। अपनी भूमिका का अर्थात् हम कौनसे गुणस्थान में है इसका निर्णय हम स्वयं कर सकते हैं।

तुम कहोगी `प्रस्तावना इतनी लंबी लिख दी उससे अच्छा होता कि विषय का ही प्रारंभ कर देती !' तुम्हारा कहना भी ठीक है। हम आगामी पत्र में गुणस्थानसंबंधी जानकारी लेंगे।

– तुम्हारी माँ

****

गुणस्थान - सामान्य चर्चा

(सम्यक्त्व प्राप्ति की पात्रता, प्रक्रिया एवं स्वरूप)

पत्रांक 10 ॥ ॐ नमः सिध्देभ्यः ॥ 31 अगस्त 1999

प्रिय रीना एवं मोना,

अनेक उत्तम शुभाशीर्वाद ।

गुणस्थानसंबंधी तुम्हारी उत्सुकता देखकर मेरा भी उत्साह द्विगुणित हो गया है । अरविंदभाई भी रोज पूछते हैं कि, `भाभी, कितना लिख लिया ? जल्दी पूर्ण कीजिये । हमें शीघ्रातिशीघ्र पुस्तक छपवाना है ।'

सर्वप्रथम गुणस्थान क्या है देखेंगे । राजस्थान, हिंदुस्थान, पाकिस्तान आदि शब्दों से हम परिचित हैं । तो क्या गुणों के समूह को गुणस्थान कहा है ? या गुणों के स्थानों यानि भेदों को गुणस्थान कहा है ? ऐसा सवाल तुम्हारे मन में उठेगा । गुणस्थान क्या है - द्रव्य है, गुण है कि पर्याय है ?

द्रव्य तो नहीं है क्योंकि छह द्रव्यों में इस नाम का कोई भी द्रव्य नहीं है। यह गुण भी नहीं है क्योंकि गुण की परिभाषा तो तुम जानती ही हो कि, जो द्रव्य के सम्पूर्ण भागों और उसकी सम्पूर्ण अवस्थाओं में रहता है उसे गुण कहते हैं । गुण कायम रहते हैं परंतु गुणस्थान तो बदलते हैं और गुणस्थानों का अभाव करके गुणस्थानातीत सिध्द अवस्था प्रकटती है इसलिए वह गुण भी नहीं है ।

नाम गुणस्थान होने पर भी ये पर्यायों के स्थान यानि भेद हैं । जीव की पर्यायों के असंख्यात प्रकार होने पर भी स्थूलरूप से उनके चौदह भेदों का कथन किया जाता है । जीव में अनंत गुण हैं और उनमें प्रत्येक गुण की पर्यायें हैं । परंतु उनमें से श्रध्दा और चारित्र गुण की अवस्थाओं में - पर्यायों में जो तारतम्यता पायी जाती है उसकी तथा योग की अपेक्षा से भी इन्हें चौदह गुणस्थानों में विभाजित किया है ।

गुणस्थान की शास्त्रोक्त परिभाषा है, - `मोह और योग के निमित्त से जीव के श्रध्दा और चारित्र गुण की होनेवाली तारतम्यरूप अवस्थाओं को गुणस्थान कहते हैं ।'

ये जीव की पर्यायों के भेद हैं, अन्य द्रव्यों की पर्यायों के नहीं। जीव में भी अनंत गुणों में से मात्र श्रध्दा और चारित्र गुण की पर्यायानुसार गुणस्थानों के भेद हुअे हैं। सिध्दजीव गुणस्थानातीत हैं और सभी संसारी जीव किसी ना किसी गुणस्थान में पाये जाते हैं। हमें गुणस्थान के अभ्यास में प्रवेश करना है, गुणस्थानों में नहीं। क्योंकि हम सब किसी ना किसी गुणस्थान में हैं ही।

अनादिकाल से सभी जीव सर्वप्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान में होते हैं। यह पहला गुणस्थान है। इसका प्रथम स्थान है इसलिए इसे अच्छा मत मानना। यह तो बादशाही (राजेशाही) गुणस्थान है। यहाँ मोहराजा का हुकम चलता है। इन जीवों की जिनेन्द्रकथित प्रयोजनभूत तत्त्वसंबंधी विपरीत मान्यता होती है। इसीको अतत्त्वश्रध्दान कहते हैं। प्रयोजनभूत तत्त्वसंबंधी विस्तृत विवेचन हमने पहले पुस्तक (जैनतत्त्व परिचय) में नौ लेखों द्वारा किया ही है, याद है ना ?

मिथ्यात्व गुणस्थानवाला जीव प्राप्त शरीर में ही 'यह मैं हूँ' मानता है। सच्चे देव, गुरु, शास्त्र का स्वरूप वह नहीं जानता। कुलपरंपरा से वह उनको मानता है, उनकी पूजा, भक्ति करता है। शुभराग यानि पुण्यकार्य करने से मोक्ष की प्राप्ति होगी मानता है। कुछ लोग कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र का सेवन करते हैं अर्थात् उनकी भक्ति, पूजा, आदर करते हैं। उनके उपदेश का विश्वास करते हैं। उन्हें गृहीत मिथ्यात्व होता है।

कुछ लोग अरहंतों की भक्ति, पूजा करते हैं परंतु बाह्य प्रतिमा और शरीरादिक में ही उन्हें पूज्यभाव होता है। अरहंत के आत्मिक गुणों, उनकी वीतरागता एवं सर्वज्ञता को वे पहचानते नहीं हैं। वे लोग मंदिरों और तीर्थक्षेत्रों में जाते हैं परंतु भगवान की प्रतिमा का पाषाण, बाह्य आकार, चेहरा, विभूति और चमत्कारयुक्त अतिशय इन पर ही उनका ध्यान जाता है, उसमें ही उन्हें रुचि होती है।

कुछ लोग बाह्य दिगंबर वेष को ही मुनि का स्वरूप मानते हैं परंतु उन्हें मुनि के अंतरंग स्वरूप का - अकषाय भाव का - वीतरागता का ज्ञान नहीं होता। आगमकथित यानि आचार शास्त्र में कहे अनुसार योग्य आचरण अर्थात् 28 मूलगुणों का पालन करनेवाले तथा 3 कषाय चौकडी के अभावपूर्वक वीतरागता जिनमें है ऐसे जीव ही मुनि हैं, इस बात का उन लोगों को ज्ञान

नहीं है। ऊपर कहे अनुसार जिनका स्वरूप नहीं है उनसे सच्चे मोक्षमार्ग का उपदेश प्राप्त होना शक्य नहीं है, उन्हें मानने-पूजने से मिथ्यात्व की पुष्टि होती है और मिथ्यात्व में से छूटने का मार्ग ही बंद हो जाता है।

मिथ्यात्वी जीव की सात तत्त्वसंबंधी मान्यता विपरीत होती है। उसके परद्रव्यों में एकत्वबुध्दि, ममत्वबुध्दि, कर्तृत्वबुध्दि और भोक्तृत्वबुध्दि पायी जाती है। निमित्त-उपादान संबंधी यथार्थ ज्ञान न होने के कारण उसकी निमित्ताधीन दृष्टि होती है। शरीराश्रित क्रिया और रागभाव को वह अपना कार्य मानता है और उनमें एकत्व करता है।

शास्त्राभ्यास करने पर भी कई लोगों का मिथ्यात्व छूटता नहीं है। कुछ लोग शुभकार्य - देवपूजा, दया, दान, स्वाध्याय करने में संतोष मानते हैं परंतु शुध्दात्मा की रुचिपूर्वक आत्मसन्मुखताका पुरुषार्थ उनके नहीं होता, क्योंकि अब भी मान्यता में कहीं खोट रह जाती है। कुछ लोग शुध्दात्मा के विकल्प में ही संतोष मानकर स्वयं को पर्याय में शुध्द मानते हैं। इन दोनों प्रकार के जीवों को तत्त्वज्ञान का मर्म ही समझा नहीं है। निश्चयनय और व्यवहारनय के कथन का संतुलन और मर्म उन्हें प्राप्त नहीं हुआ है।

अनादिकाल से एक के बाद एक अनंत भव हमने धारण किये। प्रत्येक भव में प्राप्त पर्याय जितना ही हमने स्वयं को माना। इसलिए प्रवाह की अपेक्षा मिथ्यात्व को अनादि का बताया है। पं. दौलतरामजी छहढाला में कहते हैं -

'मोह महामद पियो अनादि, भूल आपको भरमतवादि।'

मिथ्यात्व का वर्णन सुनकर घबराने का कोई कारण नहीं है। मिथ्यात्व का अभाव करके सम्यक्त्व प्राप्ति का उपाय हमें जिनवाणी द्वारा उपलब्ध है। सर्वप्रथम सम्यक्त्व प्राप्ति की योग्यता किस जीव में होती है उसे देखते हैं। चारों ही गति के संज्ञी पंचेंद्रिय भव्य जीव मिथ्यात्व का अभाव करके सम्यक्त्व की प्राप्ति कर सकते हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि एकेंद्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेंद्रियों तक के सभी जीव नियम से मिथ्यात्व गुणस्थान में होते हैं और उन्हें सम्यक्त्व प्राप्ति की योग्यता भी नहीं होती। संज्ञी यानि मनसहित पंचेंद्रिय जीवों में भी पर्याप्त होना आवश्यक है। पर्याप्त यानि पूर्ण अपर्याप्त यानि अपूर्ण।

पर्याप्तिसंबंधी विवेचन बाद में करूंगी तब अधिक स्पष्टता होगी । अपर्याप्त जीव श्वास के अठारहवें भाग में मरते हैं । वे अत्यंत अल्प आयु के धारक हैं । नोकर्मवर्गणा का ग्रहण करने पर भी उनसे शरीरादि बनाने का उनका कार्य पूर्ण नहीं होता, अधूरा ही रहता है ।

संज्ञी पंचेंद्रिय पर्याप्तक जीव को ज्ञान का इतना उघाड है कि वह अपने स्वरूपसंबंधी उपदेश ग्रहण करता है, मन के द्वारा उस पर विचार करता है, तत्त्वनिर्णय करता है; देव, गुरु, शास्त्र, मोक्षमार्ग के विषय में परीक्षाप्रधानी होकर निर्णय करता है । शास्त्र में सम्यक्त्व प्राप्ति के कारणों और प्रक्रिया में पांच लब्धियों का स्वरूप कथन किया है । उनके नाम हैं -

(1) क्षयोपशमलब्धि (2) विशुध्दिलब्धि (3) देशनालब्धि (4) प्रायोग्यलब्धि (5) करणलब्धि ।

मात्र ज्ञान का उघाड होना अर्थात् तीक्ष्ण बुध्दि का होना क्षयोपशमलब्धि नहीं कहलाती वह तो ज्ञान का क्षयोपशम है । परंतु प्राप्त ज्ञान तत्त्वज्ञान के अध्ययन में लगाना `क्षयोपशमलब्धि' है।

सम्यक्त्व प्राप्ति के लिए दूसरी आवश्यकता है कषायों की मंदता का होना । अष्ट मूलगुणों का धारण करना, अन्याय, अनीति एवं अभक्ष्यभक्षण का त्याग करना और सदाचार युक्त जीवन का होना पात्रता है । इसे `विशुध्दिलब्धि' कहा है । कषायों की तीव्रता में जीवों को जिनवाणी का उपदेश रुचता नहीं है । पचता नहीं है, समझता नहीं है, वास्तव में जीव उस उपदेश की ओर मुड़ता भी नहीं है - दूर से ही टाल देता है । गृहीत मिथ्यात्व अर्थात् कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र का त्याग भी अत्यावश्यक है ।

ऐसे पात्र जीव को ज्ञानी से उपदेश मिलता है, इसे `देशनालब्धि' कहते हैं । मात्र उपदेश सुनना देशनालब्धि नहीं है । आत्मा के स्वरूप का कथन जो रुचिपूर्वक सुनता है और तदनुसार आगमकथित प्रयोजनभूत सात तत्त्वों का ज्ञान करके जो तत्त्वनिर्णय करता है उसीने उपदेश ग्रहण किया कह सकते हैं । जैसे, यदि रोहित से तुमने कहा कि जा बेटा, एक ग्लास जल लेकर आ । सुनकर उसने जल लाया तो हम कहेंगे रोहित ने हमारी बात सुनी । मात्र कानों से सुनना और तदनुसार कार्य न करना इसे हम लौकिक में भी सुनना नहीं कहते ।

देशनालब्धि के बाद प्रायोग्यलब्धि होती है। जीव तत्त्वज्ञान के अभ्यासपूर्वक तत्त्वनिर्णय करता है। आगम में आत्मा का स्वरूप जैसा बताया है वैसा अपने ज्ञान में निश्चित करता है। बारम्बार आत्मासंबंधी विचार, चिंतन करता है। यह 'प्रायोग्यलब्धि' कहलाती है।

पहली चार लब्धि प्राप्त करनेवाले जीव को सम्यक्त्व होगा ही ऐसा नहीं है। भव्य और अभव्य दोनों प्रकार के जीवों को ये चार लब्धि प्राप्त हो सकती हैं। परंतु जिसे सम्यक्त्व प्राप्त होता है उसे चार लब्धि के पश्चात् करणलब्धि के परिणाम होते हैं अर्थात् करणलब्धिपूर्वक सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। कर्म की उपशम अवस्था देखते समय हमने इसके संबंध में चर्चा की थी। करणलब्धि में जीव को कर्म में कुछ करना नहीं पड़ता। पूर्व में तत्त्वनिर्णय किया हो उसके द्वारा जब शुध्दात्मा की तीव्र रुचि जाग्रत होती है, आत्मा की महिमा सर्वोत्कृष्ट भासित होती है, सम्पूर्ण जगत से निजशुध्दात्मा महान प्रतीत होने लगता है तब उपयोग स्वसन्मुख होता है, यही 'करणलब्धि' है। इसके अनंतर वह स्वयं को ज्ञायकस्वरूप में जानने लगता है, उसे अतींद्रिय आनंद की अनुभूति होती है।

यह कार्य जाग्रत अवस्था में साकार उपयोग द्वारा (ज्ञानोपयोग द्वारा) होता है। नींद में, बातें करते करते या परसन्मुख उपयोग के काल में आत्मा की अनुभूति यानि सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं होगी।

तुम पूछोगी कि, 'हमें सम्यक्त्व प्राप्त करना है उसके लिए अब हमें क्या करना होगा वह तो बता दे।'

देखो, संज्ञी पंचेंद्रिय पर्याप्त मनुष्य तो तुम हो ही। शुध्दात्मा की रुचि भी तुम्हें है, इससे तुम भव्य हो इस बात का पता चलता है। पद्मनंदी आचार्य अपने पद्मनंदी पंचविंशतिका ग्रंथ में कहते हैं कि, जो जीव शुध्दात्मा की चर्चा वार्ता अत्यंत प्रीतिचित्त से सुनता है वह निश्चित ही भव्य है और भविष्य में निर्वाण प्राप्त करने के लिए पात्र है। तुम्हारी यह रुचि तुम्हारे मंद कषायों की द्योतक है। जिनेन्द्र कथित उपदेश भी तुम्हें प्राप्त हो गया है और हो रहा है।

सब से महत्व का कार्य है - सच्चे देव, गुरु, शास्त्र का यथार्थ निर्णय करना; कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र अर्थात् गृहीत मिथ्यात्व का सर्वथा त्याग करना; मद्य, मांस, मधु (शहद) और पांच उदुम्बर फलों का त्याग करना इसे अष्ट मूलगुण धारण करना कहते हैं; नीतियुक्त सदाचारी जीवन व्यतीत

करते हुअे अध्यात्मशास्त्रों के अध्ययन से आत्मस्वभाव का निर्णय करना; दिन में कुछ समय एकांत में चिंतन मनन करना; शास्त्रस्वाध्याय या चिंतन द्वारा शुध्दात्मा की महिमा लाकर उपयोग को स्वसन्मुख करना। सच कहूँ तो उपदेश की भाषा में ऐसा करो या वैसा करो कहा जाता है परंतु जिसे आत्मा की रुचि एवं लगनी लगी है उसे विकल्पात्मक भूमिका के अनंतर विकल्प छूटकर निर्विकल्प अवस्था सहज प्राप्त होती है, उसके लिए कुछ करना नहीं पड़ता।

मुझे कुछ करना चाहिए, विशिष्ट शुभभाव करना चाहिए, विकल्प करने चाहिए, विकल्प छोड़ने चाहिए आदि `करना चाहिए' ऐसा जो अभिप्राय है वह गलत है। `मैं कौन हूँ' इसका यथार्थ निर्णय होने पर यह `करूँ-करूँ' की भावना नष्ट हो जाती है।

जीव को जब सर्वप्रथम सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है तब औपशमिक सम्यक्त्व ही होता है। यह जीव पहले मिथ्यात्व गुणस्थान से चौथे `अविरत सम्यक्त्व' गुणस्थान में आता है। उसके श्रध्दा गुण की मिथ्यादर्शन अवस्था पलटकर सम्यग्दर्शन अवस्था प्राप्त होती है।

चौथे गुणस्थान का नाम अविरत यानि अव्रत सम्यक्त्व है। इस गुणस्थान के जीवों को सम्यक्त्व तो है परंतु कोई भी विरति यानि व्रत नहीं है। पांच इंद्रियों और मन से यह जीव विरत हुआ नहीं है - पीछे हटा नहीं है। उसीतरह षट्कायिक जीवों की हिंसा से भी यह विरत नहीं हुआ है। शास्त्र की भाषा में कहूँ तो इसे छह प्रकार का इंद्रियसंयम और छह प्रकार का प्राणीसंयम नहीं है। जीव इनसे विरत न होने पर भी उसका इनमें स्वच्छंद प्रवर्तन नहीं होगा।

यहाँ चारित्र गुण की पर्याय में अनंतानुबंधी कषाय का अभाव है परंतु अभी अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन कषाय विद्यमान हैं। इन जीवों को कभी कभी शुध्दोपयोग होता है, इन्हें सच्चे देव, गुरु और शास्त्र की भक्ति का राग आता है, जिनेंद्रकथित प्रयोजनभूत सात तत्त्वों की इन्हें प्रतीति होती है, स्व-और पर का भेदज्ञान तथा आत्मा की प्रतीति कायम रहती है।

इनके बाह्य आचरण में कुछ परिवर्तन दिखाई नहीं देता फिर भी इनके अंतरंग में जमीन आसमान का फरक पड़ जाता है। इनके विपरीत अभिप्राय

का नाश हो गया है, इन्हें आत्मानुभूति हुअी है, इन्हें निरंतर भेदज्ञान वर्तता है, इन्हों ने स्वयं को स्व-स्वरूप में स्वीकार किया है और ये पर को पर जानते हैं, इन्हें रागादि यानि कषाय तो विद्यमान होते हैं परंतु उन राग का स्वामीपना इन्हें नहीं रहता, राग का राग नहीं है।

इन जीवों को सच्चे देव, गुरु, शास्त्र के भक्ति, प्रभावना के परिणाम आते हैं परंतु उस समय भी उनकी स्वभाव सन्मुखता की भावना और बल कायम रहता है। भक्ति, स्वाध्याय, अध्ययन, अध्यापन आदि द्वारा भी ये जीव स्वभाव का ही रस पुष्ट करते रहते हैं और इन सब बातों को छोड़कर स्वभाव में अंतर्मग्न होने की उनकी प्रवृत्ति भी होती रहती है।

हमने देखा था कि चारों ही गति के जीव सम्यक्त्व प्राप्त कर सकते हैं। संज्ञी पंचेंद्रिय पर्याप्त तिर्यंच, मनुष्य, देव अथवा नारकी पहले गुणस्थान से चौथे गुणस्थान में जा सकते हैं। मरण के बाद अन्य भव में भी चौथा गुणस्थान कायम रहता है अर्थात् सम्यक्त्व कायम रहता है।

सम्यग्दृष्टि जीव निरंतर भेदज्ञान का अभ्यास करता रहता है। वह सांसारिक कार्यों में संलग्न होता है फिर भी उसे स्वयं की प्रतीति सदा विद्यमान रहती है। तुम कहोगी कि, `शुध्दोपयोग का काल तो अल्प है। उसके पश्चात् जीव शुभोपयोग या अशुभोपयोग में जायेगा ही। तब उसका सम्यक्त्व कैसे टिकता होगा ?'

देखो, जब सर्व प्रथम सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है तब वह नियम से शुध्दोपयोग अवस्था में ही होती है परंतु शुध्दोपयोग के पश्चात् उसका सम्यक्त्व नष्ट नहीं होता। स्वयं का भिन्न अनुभव लेने के पश्चात्, स्वयं की पहचान करने के बाद उसका स्वयं में स्वपना कायम रहता है, शुभभाव या अशुभभाव के होते हुअे भी उसकी यह प्रतीति नष्ट नहीं होती। यह कैसे संभव है ? उसे दृष्टांत के माध्यम से समझेंगे।

जिसतरह कोई फिल्म अभिनेता फिल्म शूटिंग के समय भिखारी का अभिनय करता होगा तो उस समय वह सचमुच भिखारी ही भासित होता है फिर भी वह अपने असली नाम, स्वरूप, अस्तित्व को भूलता नहीं है। यदि वह अपना स्वरूप ही भूल जायेगा तो भिखारी की तरह दर दर भटकेगा, भूखा रहेगा, भीख मांगते फिरेगा परंतु ऐसा कुछ भी तो नहीं होता। अभिनय के तो उसे करोड़ो रुपये मिलते हैं। भिखारी के वेष में भीख मांगते हुअे वह

प्रत्यक्ष दिख रहा है फिर भी उसी क्षण उसे स्वयं के बड़प्पन, महिमा की पूरी प्रतीति है।

इसके लिए उसे अपना नाम रटना नहीं पड़ता। उसे बारम्बार स्वसंबंधी विकल्प भी नहीं करने पड़ते कि अरे मैं तो फलां अभिनेता हूँ। अभिनेता घर में हो या अभिनय करता हो, स्वयं के स्वरूप का भान उसे निरंतर वर्तता है।

उसीतरह जिसने आत्मा का अनुभव किया है उसे अपने स्वरूप की - ज्ञायकपना की - प्रतीति सतत चालू रहती है। चाहे वह स्व को जानता हो या पर को जान रहा हो अर्थात् वह शुध्दोपयोग, शुभोपयोग अथवा अशुभोपयोग में हो, उसे अपने स्वरूप के बारे में रटना नहीं पड़ता। सतत `मैं ज्ञायक हूँ,' `मैं शुध्द हूँ' आदि विकल्प करने नहीं पड़ते। सहज रीति से स्व में स्वपना कायम रहता है।

सम्यग्दृष्टि जीव को राग विद्यमान होने पर भी वह राग का स्वामी नहीं होता। राग के प्रति उसे राग-द्वेष नहीं होते, राग की महिमा भी उसे नहीं आती। पहले से अधिक उच्च प्रकार के शुभराग उसे सहज आते हैं परंतु अब उसे उनमें दुःखरूप वेदन अनुभव में आता है। हाँ, एक बात सच है कि मिथ्यात्व अवस्था की तुलना में राग के काल में भी उसकी आंशिक निराकुलता कायम रहती है।

इस जीव को सतत ऐसी भावना वर्तती है कि मैं स्वयं के स्वभाव का अधिक से अधिक अवलंबन लेकर अधिक आत्मस्थिरता प्राप्त करूँ, आत्मा में ही रम जाऊँ।

जिसे आत्मा का अनुभव हुआ है ऐसे जीव को शुध्दोपयोग की ही तीव्र इच्छा रहती है। स्वरूपस्थिरता नहीं होती तब उसके शुध्दात्मासंबंधी, आगमसंबंधी, छह द्रव्य, सात तत्त्वसंबंधी, कर्म गुणस्थान, त्रिलोकरचना आदि आगमोक्त बातोंसंबंधी विचार, चिंतन, अध्ययन और अध्यापन चलता रहता है।

दिन प्रतिदिन उसकी सांसारिक कार्यों के प्रति उदासीनता बढ़ती जाती है, उसकी सत्समागम की रुचि बढ़ती है, अध्ययन-अध्यापन विशेष रीति से होने लगता है। देव, गुरु, शास्त्र के प्रति उसे अत्यंत बहुमान वर्तता है, उनकी वह भक्ति करता है।

सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है तब जीव पहले गुणस्थान से चौथे गुणस्थान में जाता है इसे हमने देखा। कोई जीव मिथ्यात्व गुणस्थान से अन्यत्र भी

गमन करते हैं - जैसे कोई जीव पहले में से पांचवें गुणस्थान में तो कोई सातवें गुणस्थान में जा सकते हैं। पांचवें गुणस्थान में जानेवाले जीव की पात्रता यह है कि उसने बुध्दिपूर्वक अणुव्रतों का ग्रहण करना आवश्यक है। सम्यक्त्व प्राप्ति के लिए अन्य जो पात्रता पहले बतायी थी वे भी आवश्यक है ही।

पहले गुणस्थान में से सातवें गुणस्थान में जानेवाले जीव के लिए ऊपर बतायी हुअी पात्रता के साथ दिगंबर जिनदीक्षा धारण करना अर्थात् आगमोक्त 28 मूलगुणों का पालन करना अत्यावश्यक है। इसे शास्त्र में द्रव्यलिंग कहा है। द्रव्यलिंग धारण किये बिना भावलिंग यानि सातवें गुणस्थान जितनी वीतरागता अर्थात् अंतरंग मुनिपना हो नहीं सकता।

चौथे गुणस्थान में से जीव ऊपर के गुणस्थानों में कैसे जाता है इसकी चर्चा हम आगामी पत्र में करेंगे।

तुम कहोगी कि पहले गुणस्थान के बाद हमने चौथे, पांचवें और सातवें गुणस्थानों की चर्चा प्रारंभ की परंतु दूसरे, तीसरे और छठवें गुणस्थान को क्यों छोड़ दिया ?

सुनो, औपशमिक सम्यक्त्व के काल में यदि अनंतानुबंधी कषाय का उदय होगा तो जीव सम्यक्त्व से भ्रष्ट होता है तब उसे दूसरा `सासादन सम्यक्त्व' गुणस्थान प्राप्त होता है। उस गुणस्थान में एक समय से लेकर छह आवलि (1 आवलि = असंख्यात समय) तक रहकर वह जीव नियम से मिथ्यात्व गुणस्थान में जाता है।

सम्यक्त्व प्राप्ति के बाद कई जीवों की श्रध्दा डगमगाती है, मिथ्यात्वसहित अलग ही जातिका - जात्यंतर मिश्र परिणाम उनके होता है। उस समय सम्यग्मिथ्यात्व नाम की दर्शनमोहनीय कर्म की प्रकृति का उनके उदय रहता है। ऐसे जीवों को तीसरा मिश्र अर्थात् सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान होता है। इसका भी काल अल्प यानि अंतर्मुहूर्त है। उसके बाद जीव पहले या चौथे गुणस्थान में जाता है।

छठवां गुणस्थान मुनि का शुभोपयोग का गुणस्थान है और सातवां शुध्दोपयोग का गुणस्थान है। मुनि सतत छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलते हैं। सातवें गुणस्थान में से ही वे छठवें में आते हैं। उसकी चर्चा आगे करेंगे ही। आज यहीं विराम लेंगे।

– तुम्हारी माँ

****

गुणस्थान आरोहण - देशविरत गुणस्थान

पत्रांक 11 ॥ ॐ नमः सिध्देभ्यः ॥ 2 सितम्बर 1999

प्रिय रीना एवं मोना,

अनेक उत्तम शुभाशीर्वाद ।

गुणस्थानसंबंधी सब ज्ञान हमें आगम के आधार से प्राप्त हुआ है । यह आगम जिनेन्द्र भगवान के दिव्यध्वनि द्वारा प्राप्त हुआ और परंपरा से आचार्यों को प्राप्त हुआ । आचार्यों ने इसे लिखकर रख्खा है । जिनेन्द्र भगवंतों ने अपने केवलज्ञान द्वारा वस्तुस्वरूप का प्रत्यक्ष ज्ञान करके पश्चात् ही उसका उपदेश दिया है ।

आचार्यों और अनेक गृहस्थों ने आगमज्ञान के आधार से स्वसन्मुखतापूर्वक आत्मा का अनुभव किया और अन्य जीवों को उसका उपदेश दिया । हम जब किसी वक्ता से यह उपदेश सुनते हैं तब वह मात्र उसका ही उपदेश नहीं होता परंतु आगम ग्रंथों का उपदेश होता है, आचार्यों का उपदेश होता है, सर्वज्ञ भगवान का उपदेश होता है । वक्ता यदि आत्मज्ञानी हो तो वह उपदेश विशेष कार्यकारी होता है ।

सम्यग्दृष्टि जीव भी आत्मा के स्वरूप का जो उपदेश देता है वह आगम के आधार से ही देता है । शुध्दोपयोग में उसे आत्मा के अनंत गुण या असंख्यात प्रदेश तो नहीं दिखते । आगमानुसार ज्ञान यथार्थ होने के बाद स्वरूप में एकाग्र होनेपर उसे निर्विकल्प अतींद्रिय आनंद का अनुभव होता है । आत्मस्वरूप और मोक्षमार्ग के बारे में वह निःशंक रहता है, उसे पूर्ण विश्वास रहता है ।

बेटीयों, आध्यात्म का अध्ययन करनेवालों को अपना विवेक जाग्रत रखने की बहुत आवश्यकता है । गुणस्थान सीखने के बाद यह बात ध्यान में लेनी चाहिए कि चौथा और पांचवां गुणस्थान गृहस्थों का है । मुनि के गुणस्थान छठवां, सातवां और ऊपर के होते हैं । अरहंतों का तेरहवां और चौदहवां गुणस्थान होता है ।

इनमें से देव, गुरु (मुनि) और शास्त्र ही वंदनीय, पूजनीय, अष्टद्रव्यों से पूजा करने योग्य होते हैं । गृहस्थ सम्यग्दृष्टि होने पर भी वह मुनि समान

पूजनीय नहीं होता । हाँ, उनका विद्यागुरु के नाते योग्य आदर, सत्कार, नमस्कारादि करना योग्य हैं । परंतु अपने अभिप्राय में यदि हम ऐसे व्यक्ति को देव और मुनि से उच्च मानते होंगे तो वह हमारी विवेकहीनता होगी । आज कल ऐसी कुछ विकृतियां देखने में आ रही हैं और अनेक लोग व्यक्तिपूजा का आडम्बर मचा रहे हैं । परंतु उसके कारण वे स्वयं अपने पांवपर कुल्हाडी मार रहे हैं, उनके अपने सम्यक्त्व प्राप्ति में बाधा डाल रहे हैं इस बात का उन्हें पता नहीं है ।

देवगति के देव चौथे गुणस्थान से ऊपर नहीं जा सकते । सौधर्म इंद्र, लौकांतिक देव सम्यग्दृष्टि हैं और अगले भव में ही मोक्ष जानेवाले हैं फिर भी हम उनकी पूजा नहीं करते ।

गुणस्थानों के अध्ययन से निश्चय और व्यवहार का अपनी बुध्दि द्वारा समन्वय साधा जाता है, उनका सुमेल अपने ख्याल में आता है । कौन से गुणस्थानवाले जीव के आचार विचार कैसे होते हैं इस बात का ज्ञान होता है । यहाँ एक बात ठीक तरह से ध्यान में रखखो कि उन आचारों का यानि व्रतादिकों का पालन करने से गुणस्थान नहीं बदलता परंतु अंतरंग में वीतरागता बढ़ने से ऊपर के गुणस्थान प्राप्त होते हैं ।

सम्यक्त्व की प्राप्ति भेदज्ञानपूर्वक आत्मस्थिरता द्वारा होती है । उसीप्रकार ऊपर ऊपर के गुणस्थानों की अर्थात् पांचवें, सातवें से लेकर तेरहवें सयोगकेवली गुणस्थानों की प्राप्ति भी अधिकाधिक आत्मस्थिरता द्वारा ही होती है । इसीलिए आत्मख्याति ग्रंथ में कहा है -

भावयेत् भेदविज्ञानम् इदम् अच्छिन्न धारया ।
तावत् यावत् परात् च्युत्वा ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठते ।।130।।

संस्कृत शब्दों का अर्थ तुम्हारे ख्याल में आ सके इसलिए एक एक शब्द अलग लिखा है । इसका अर्थ इसप्रकार है -

सम्यक्त्व प्राप्त होने के पश्चात् भी भेदविज्ञान अखंड तब तक भाना चाहिए, उसकी भावना तब तक करनी चाहिए जब तक ज्ञान परभावों से च्युत होकर पूर्णरूप से ज्ञानस्वभाव में कायम नहीं ठहरता । आत्मस्थिरता द्वारा सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होती है और आत्मस्थिरता द्वारा ही केवलज्ञान की

भी प्राप्ति होती है। मोक्षमार्ग का प्रारंभ, मोक्षमार्ग और मोक्ष सब कुछ अंतरंग में ही आत्मस्थिरता द्वारा होता है; बाह्य आचरण और व्रतादि मुझे मोक्षमार्ग की प्राप्ति में मदद करेंगे यह मान्यता मिथ्यात्व है।

इसका कारण क्या है देखते हैं। शरीराश्रित क्रिया तो परद्रव्य की अचेतन की क्रियायें हैं वे मुझे मोक्षमार्ग प्रकट कराने में कैसे कार्यकारी हो सकती हैं ? वे मेरी क्रियायें हैं ऐसी विपरीत मान्यता सम्यक्त्व प्राप्ति में बाधक है। व्रतादि करने का जो शुभराग होता है वह तो चारित्र गुण का विभाव है। वह मेरा स्वभाव नहीं है, उस पर्याय जितना मैं नहीं हूँ। मैं तो त्रिकाल, शुध्द, ध्रुव, अभेद हूँ। राग को साधक समझकर करने योग्य मानना और करना उसीतरह राग को बाधक समझकर उसे हटाने का यत्न करना इन दोनों में दृष्टि तो रागपर ही रहती है और उसकारण स्वभाव गौण होता है।

परंतु स्वभाव को मुख्य करके त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा में मैं पना स्थापित करके जब आत्मा में एकाग्रता होती है तब सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। उस समय देह तथा योग्यतानुसार राग की भी विद्यमानता होती है परंतु अब दृष्टि उस पर नहीं होती अर्थात् उनके प्रति स्वामित्वभाव या एकत्व नहीं होता।

शुभभाव छोड़कर क्या स्वच्छंदी होना है ? ऐसा प्रश्न कुछ लोग करते हैं। जिसे शुध्दात्मा में एकत्व वर्तता है उसकी पर्याय में स्वच्छंदता नहीं रहती। उसे तो अधिक उच्च कोटी के परिणाम आते हैं। स्वसन्मुख परिणामों में जो विशुध्दता है वह तो सर्वोत्कृष्ट शुभभाव है। शुभभाव सहज होते हैं। मुझे विशिष्ट राग छोड़कर विशिष्ट राग करना है इसतरह की रागविषयक कर्तृत्वबुध्दि उसके नहीं होती।

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के पश्चात् चौथे गुणस्थानवाले जीव की आत्मस्थिरता जैसे जैसे बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे पंचेंद्रिय और मन के विषय में उसकी अरुचि बढ़ती है। उसे दया के परिणाम आते हैं, अपने कारण अन्य जीवों की विराधना - हिंसा न हो इसकी दक्षता - सावधानी उसके वर्तती है, उसके लिए वह प्रयत्नशील रहता है। पांच पापों से परावृत्त होने का वह प्रयास करता है। अपने से हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील न हो,

परिग्रह सीमित रहे इसके लिए वह बुध्दिपूर्वक प्रयत्न करता है। यह जीव अणुव्रत धारण करता है अर्थात् चरणानुयोग के श्रावकाचार ग्रंथों के उपदेशानुसार आगमसम्मत व्रतों का प्रतिज्ञापूर्वक अंगिकार करता है। पांच अणुव्रतों, तीन गुणव्रतों और चार शिक्षाव्रतों का स्वरूप जानकर उनका पालन करता है। ऐसे जीव को द्रव्यलिंगी श्रावक या व्रती कहते हैं।

द्रव्यलिंगी श्रावक के जब शुध्दात्मा में लीनतापूर्वक आत्मस्थिरता बढ़ती है तब दो कषाय चौकड़ी के अभावपूर्वक वीतरागता बढ़ती है और उसे देशविरत नामक पांचवें गुणस्थान की प्राप्ति होती है। यह बात ठीक तरह से ध्यान में लो कि द्रव्यलिंगी श्रावक हुए बिना भावलिंगी श्रावक अर्थात् पांचवां गुणस्थान प्राप्त नहीं होता। उसीप्रकार व्रतों का ग्रहण करने मात्र से पांचवां गुणस्थान प्राप्त नहीं हो सकता।

जिसके अंतरंग में सम्यग्दर्शन सहित दो कषाय चौकडी (अनंतानुबंधी और अप्रत्याख्यान) का अभाव हुआ है और जिसने बाह्य में व्रत धारण किये हुये हैं उसीके पांचवां गुणस्थान है।

पांचवें गुणस्थान के जीवों के बढ़ती हुअी वीतरागता के साथ परिणामों के अनेक भेद पाये जाते हैं। उनके स्थूलरूप से ग्यारह भेद बतायें हैं और वे ग्यारह प्रतिमायें नाम से प्रसिध्द हैं। श्रावकाचार ग्रंथों में उसका विस्तारसहित विवेचन किया हुआ है। `वीतराग विज्ञान पाठमाला' पुस्तक में `श्रावक की ग्यारह प्रतिमायें' नामक पाठ है उसे तुम अवश्य पढ़ना। सम्यग्दृष्टि जीव के पांच अणुव्रतों के ग्रहणपूर्वक आत्मस्थिरता बढ़ती है और सम्यग्दर्शन की दृढता होती है, इसे दर्शनप्रतिमा कहते हैं। मात्र देवदर्शन के नियम का पालन करना दर्शनप्रतिमा नहीं है।

ये ग्यारह प्रतिमायें इस प्रकार हैं - (1) दर्शनप्रतिमा (2) व्रतप्रतिमा (3) सामायिकप्रतिमा (4) प्रोषधप्रतिमा (5) सचित्तत्यागप्रतिमा (6) रात्रिभोजनत्यागप्रतिमा (दिवामैथुनत्यागप्रतिमा) (7) ब्रम्हचर्यप्रतिमा (8) आरंभत्यागप्रतिमा (9) परिग्रहत्यागप्रतिमा (10) अनुमतित्यागप्रतिमा (11) उद्दिष्टत्यागप्रतिमा।

ग्यारहवीं प्रतिमाधारी श्रावक के दो भेद हैं, क्षुल्लक और ऐलक। क्षुल्लक दो वस्त्रधारी होते हैं और ऐलक एक वस्त्रधारी होते हैं। वे मुनिसंघ में रहते हैं।

ऊपर ऊपर की प्रतिमाओं में अहिंसा का पालन विशेषरूप से होता है, पाप परिणाम घटते जाते हैं फिर भी महाव्रतों का पालन नहीं हो सकता इसलिए पांचवें गुणस्थान को विरताविरत या संयमासंयम कहते हैं।

यह पांचवां देशविरत गुणस्थान मात्र कर्मभूमि के मनुष्य एवं तिर्यंचों (संज्ञी पंचेंद्रिय) को ही होता है। भोगभूमि के मनुष्य, तिर्यंच तथा देव और नारकी को चौथा गुणस्थान प्राप्त करने की योग्यता होने पर भी पांचवां गुणस्थान उन्हें प्राप्त नहीं हो सकता। उतनी अधिक आत्मस्थिरता करने की पर्यायगत योग्यता उनके नहीं होती।

लौकिक में हम देखते हैं कि दया, दान, व्रत, पूजा, यात्रादि करनेवालों को धार्मिक कहा जाता है। लोगों को बाह्य त्याग की ही महिमा आती है। उसे ही व्रत, संयम नाम दिया जाता है। कौनसे गुणस्थान में किस प्रकार के शुभ या अशुभ भाव हो सकते हैं इसे जानने के बाद हमारी समझ में आता है कि कषायों की मंदता या तीव्रता पर गुणस्थान निर्भर नहीं है, उन पर वे अनंतानुबंधी हैं कि अप्रत्याख्यान हैं निर्भर नहीं है। कषायों की जाति ही अलग है। हो सकता है कि मिथ्यात्व गुणस्थानवाला कोई जीव अति मंद कषायी, समाधानी वृत्तिवाला, पापभीरू, व्रतों का पालन करनेवाला हो। इससे विपरीत पांचवें गुणस्थानवाला कोई जीव व्यापारादि उद्यम करता होगा, युध्द भी करेगा, उसके स्त्री-पुत्रादि परिवार भी होगा, सांसारिक कार्यों में उलझा हुआ भी दिखेगा। बाह्य आचरण से उसके गुणस्थान का अनुमान हम नहीं कर सकेंगे।

परंतु एक बात यहाँ बताना चाहती हूँ कि विशिष्ट बाह्य आचरण न होगा तो विवक्षित गुणस्थान भी नहीं होगा यह तो निश्चित कह सकते हैं। जिसे बाह्यतः अुणव्रत नहीं हैं वह पांचवें गुणस्थान में नहीं हो सकता। जिसे आगमोक्त द्रव्यलिंग नहीं है अर्थात् नग्नत्व आदि 28 मूलगुण नहीं हैं उसे छठवां, सातवां या ऊपर के गुणस्थान नहीं हो सकते। इसका तात्पर्य यह

हुआ कि कोई व्यक्ति वस्त्रसहित अपने को मुनि कहलवाता हो तो वह बात तीन काल में कभी सत्य नहीं हो सकती ।

वस्त्रसहित छठवां, सातवां गुणस्थान नहीं हो सकता तो अरहंत का तेरहवां, चौदहवां गुणस्थान होने की संभावना ही कैसे हो सकती है ? स्त्री पर्यायवाला जीव पांचवें गुणस्थान तक पुरुषार्थ कर सकता है उसके ऊपर नहीं । इसलिए स्त्री को मुनिपद, अरहंत अवस्था, मोक्ष पद उसी पर्याय में प्राप्त होना संभव नहीं है । भविष्य में पुरुष पर्याय प्राप्त करके वह जीव मोक्ष प्राप्त कर सकता है ।

आहार संज्ञा (वासना) छठवें गुणस्थान तक है, सातवें से उसका अभाव रहता है, तो तेरहवें गुणस्थानवाले अरहंतों को कवलाहार मानना कितनी बड़ी भूल है यह बात ख्याल में आयेगी । वस्त्रसहित मुनिपना मानना, स्त्री पर्याय में मोक्ष मानना, केवली के कवलाहार मानना तो महान मिथ्यात्व है, शास्त्र में इसे गृहीत मिथ्यात्व कहा है । सर्वप्रथम गृहीत मिथ्यात्व छोड़े बिना अगृहीत मिथ्यात्व छूट नहीं सकता ।

ऊपर हमने कषायों की जाति के बारे में बात की थी उसकी थोडी चर्चा करेंगे । अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ चार कषाय चौकडी हैं । ये भेद तीव्र मंदता की अपेक्षा नहीं हैं परंतु उनकी जाति ही भिन्न भिन्न है । जो कषाय सम्यक्त्व नहीं होने देते, उसमें बाधा ड़ालते हैं वे अनंतानुबंधी कषाय हैं । अनंतानुबंधी कषााय और मिथ्यात्व इनकी युति है, वे एकदूसरे को पूरक हैं ।

जो कषाय किंचित् मात्र भी त्याग यानि अणुव्रत नहीं होने देते उन्हें अप्रत्याख्यान कषाय कहते हैं । वे सम्यक्त्व में बाधा नहीं ड़ालते । चौथे गुणस्थान में अप्रत्याख्यान कषायों के उदय में सम्यक्त्व तो बना रहता है परंतु अणुव्रत धारण करने के परिणाम नहीं होते ।

जो कषाय महाव्रत धारण करने में बाधारूप हैं उन्हें प्रत्याख्यान कषाय कहते हैं । पांचवे गुणस्थान में प्रत्याख्यान कषायों का उदय होने के कारण मुनिव्रत धारण करने के भाव नहीं होते।

जो कषाय यथाख्यात चारित्र नहीं होने देते उन्हें संज्वलन कषाय कहते हैं। छठवें गुणस्थान में संज्वलन कषायों का तीव्र उदय रहता है वहाँ 28 मूलगुण पालन करने का भाव-शुभोपयोग होता है । सातवें गुणस्थान में संज्वलन कषायों का मंद उदय होता है तब जीव शुद्धोपयोग में रहता है ।

हम जब अनंतानुबंधी का उदय कहते हैं तब अन्य तीन कषाय चौकडी भी विद्यमान रहती हैं । जब अप्रत्याख्यान का उदय कहते हैं तब शेष अन्य दो कषाय चौकडी भी विद्यमान रहती हैं । जब प्रत्याख्यान का उदय कहते हैं तब शेष एक यानि संज्वलन कषाय चौकडी भी रहती हैं ।

देशविरत नाम के पांचवें गुणस्थान में हमने जो ग्यारह प्रतिमायें देखी उनमें पहली प्रतिमा से ग्यारहवीं प्रतिमा तक उत्तरोत्तर वीतरागता बढ़ती जाती है और कषायों की मंदता होती जाती है । यह सारा कार्य अंतरंग में बढ़ती हुअी आत्मस्थिरता द्वारा होता है । शुध्दोपयोग में रहने का काल बढ़ता जाता है उसी प्रकार बारम्बार शुध्दोपयोग होता रहता है । यह जीव ऊपर के गुणस्थानों में कैसे जाता है अर्थात् मुनि कैसे बनता है हम आगामी पत्र में देखेंगे ।

– तुम्हारी माँ

****

मुनि के गुणस्थान

पत्रांक 12 ॥ ॐ नमः सिध्देभ्यः ॥ 3 सितम्बर 1999

प्रिय रीना एवं मोना,

अनेक उत्तम शुभाशीर्वाद ।

पांचवें गुणस्थान के क्षुल्लक और ऐलक संबंधी विवेचन हमने किया। यह जीव मुनि कैसे बनता है उसकी हम चर्चा करेंगे ।

उक्त जीव बारम्बार शुध्दोपयोग में जाता है, उसकी आत्मस्थिरता अधिक समय तक टिकती है । उसे दिगंबर मुनिदीक्षा धारण करने के भाव आते हैं । तब वह जीव नग्न दिगंबर मुनिदीक्षा अंगिकार करता है । वह प्रतिज्ञापूर्वक पांच महाव्रत धारण करता है । 28 मूलगुण पालन करने की वह प्रतिज्ञा लेता है । वे 28 मूलगुण इस प्रकार हैं - पांच महाव्रत, पांच समिति, पांच इंद्रियविजय, छह आवश्यक और शेष सात गुण ।

अहिंसा महाव्रत, सत्य महाव्रत, अचौर्य महाव्रत, ब्रम्हचर्य महाव्रत और परिग्रहत्याग महाव्रत पांच महाव्रत हैं । चरणानुयोग में इन सब व्रतों और मूलगुणों का विस्तृत वर्णन है । समिति का अर्थ है प्रवृत्ति । प्रमादरहित यत्नाचारसहित प्रवृत्ति मुनि के लिए आवश्यक है । मुनिजीवन में मुनि की प्रवृत्ति यानि आहारविहारादि क्रियायें इसप्रकार होती हैं कि जिसमें अहिंसा महाव्रत पलें । ईर्यासमिति, भाषासमिति, एषणासमिति, आदाननिक्षेपणसमिति और प्रतिष्ठापनसमिति इसतरह पांच समिति हैं ।

प्रासुक और जीवरहित स्थान पर चार हाथ जमीन देखकर चलना ईर्यासमिति है । हित-मित-प्रिय वचन बोलना भाषासमिति है । दूसरों की निंदा करने, अपशब्द बोलने, मन दुखाने वाली बात कहने का उन्हें भाव ही नहीं आता । जो जीव हर अंतर्मुहूर्त शुध्दोपयोग में जाता हो उसकी वाणी में भी शुध्दात्मा की ही कथा-वार्ता होती है । दुनियाभर की बातें करने में उन्हें कोई रस नहीं लगता ।

एषणासमिति आहारसंबंधी है । मुनि जो आहार ग्रहण करते हैं वह ध्यान और स्वाध्याय की स्थिरता के हेतु शरीर की स्थिरता के लिए करते हैं, जिव्हा इंद्रिय की लोलुपता के लिए नहीं करते । जब श्रावक शास्त्रोक्त

विधि से नवधा भक्तिपूर्वक आहारदान देते हैं तब मुनि 46 दोष और 32 अंतराय टालकर निर्दोष आहार ग्रहण करते हैं। हमने देशविरत गुणस्थान में उद्दिष्टत्याग प्रतिमा देखी थी। उस प्रतिमा के धारी श्रावक भी उनके उद्देश से बनाया हुआ आहार ग्रहण नहीं करते और उनके उद्देश से बनवायी गयी वसतिका में नहीं रहते क्योंकि उसमें हिंसा की अनुमोदना का दोष लगता है। यहाँ तो मुनि की बात है, उन्हें भी उद्दिष्ट आहार का त्याग होता है।

आदाननिक्षेपण समिति में मुनि भले प्रकार अपनी आँखों से देख व शोध कर, पिच्छी से प्रमार्जन करके किसी वस्तु, शास्त्र, कमण्डलु, पुस्तक आदि को उठाते या धरते हैं, स्थान का भले प्रकार शोधन व प्रमार्जन करते हैं।

प्रतिष्ठापन समिति का अर्थ है हरितकायरहित और त्रसकायरहित स्थान पर शरीर के मलमूत्र का क्षेपण करना।

स्पर्शनेंद्रियविजय, रसनेंद्रियविजय, घ्राणेंद्रियविजय, चक्षुरिंद्रियविजय और श्रोत्रेंद्रियविजय पांच प्रकार के इंद्रियविजय हैं। मुनि पांचों ही इंद्रियों को अपने वश में रखते हैं, उनका निरोध करते हैं। इंद्रियों के विषयों में उनके आसक्ति नहीं होती, उनमें उन्हें राग भी नहीं होता और द्वेष भी नहीं होता।

मुनि के षट्आवश्यक मुनिजीवन में प्रमाद नहीं होने देते, मुनि को अपने कर्तव्य प्रति दक्ष रखते हैं। आवश्यक कर्तव्य को आवश्यक कहते हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं - (1) सामायिक (2) चतुर्विंशतिस्तव (3) वंदना (4) प्रतिक्रमण (5) प्रत्याख्यान और (6) कायोत्सर्ग.

बाकी रहे सात मूलगुणों को शेष सात गुण कहते हैं। वे इस प्रकार हैं- (1) केशलोच (2) वस्त्रत्याग - नग्नत्व (3) अस्नान अर्थात् स्नानत्याग (4) भूमिशयन (5) अदन्तधोवन (6) स्थितिभोजन-खड़े खड़े करपात्र भोजन (7) एक भक्त - दिन में एक बार आहार ग्रहण करना।

मुनियों के आचारसंबंधी अनेक नियम होते हैं और मुनिसंघ में उन नियमों का बड़ी सावधानीपूर्वक पालन किया जाता है। हम देखते हैं कि सैनिक शिक्षण (मिलिटरी ट्रेनिंग) लेनेवाले व्यक्तियों को कठोर शासन एवं कानून का पालन करना पड़ता है, उसमें उन्हें मेहनत और कष्ट उठाने पड़ते हैं। परंतु मुनिजीवन कष्टदायक जीवन नहीं है। सम्यग्दृष्टि जीव निरंतर आत्मिक आनंद का उपभोग लेता है। इन मुनियों को इंद्रिय विषयों

में कोई रस ही नहीं लगता, देह और राग से भिन्न अपने ज्ञान-आनंदमय अस्तित्व का भान उन्हें सदैव वर्तता है। इसलिए मुनियोग्य क्रियाओं में उन्हें कष्ट या जबरन् मेहनत नहीं लगती।

इसप्रकार 28 मूलगुणों का निरतिचार पालन करनेवाला जीव जब स्वसन्मुखता करता है, शुध्दोपयोग में रहता है, उसकी आत्मस्थिरता बढ़कर 3 कषाय चौकडी का अभाव होता है तब उसे सातवां अप्रमत्त गुणस्थान प्राप्त होता है। सातवें गुणस्थान का यानि शुध्दोपयोग का काल अल्प है - एक अंतर्मुहूर्त है उसके बाद जीव नियम से छठवें गुणस्थान में आता है। यह शुभोपयोग का काल है। इसमें अध्ययन, अध्यापन, आहार, विहारादि क्रियायें होती हैं। पुनश्च अंतर्मुहूर्त में सातवां गुणस्थान प्राप्त होता है। इसतरह निरंतर छठवां सातवां गुणस्थान प्राप्त होता रहता है। आचार्य, उपाध्याय और साधु सदैव छठवें-सातवें गुणस्थानों में झुलते रहते हैं।

मुनि हो या व्रती श्रावक हो, उनके अंतरंग की वीतरागता या गुणस्थान तो बाह्यतः दिखते नहीं है। इसके अलावा परिणामों में भी उतार चढ़ाव होते रहते हैं, सापसीढ़ी के खेल समान ऊपर के गुणस्थानों से नीचे के गुणस्थानों में और फिर पुरुषार्थ करके ऊपर के गुणस्थानों में गमनागमन चलता रहता है।

इसलिए मुनि का गुणस्थान या सम्यक्त्व की परीक्षा करना हमारा कर्तव्य नहीं है। मुनिव्रत - 28 मूलगुण यथार्थ पल रहे हैं या नहीं इसकी परीक्षा श्रावक कर सकता है। इतना ही नहीं, परीक्षा करके 28 मूलगुणों का यथार्थ पालन करनेवाले मुनि को आहारदान देना, उनकी भक्ति, पूजा करना श्रावक का कर्तव्य है।

परंतु जब देव, गुरु, शास्त्र के स्वरूप का निर्णय करने की बात आती है तब द्रव्यलिंगपूर्वक भावलिंग प्रकट करनेवाले छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलनेवाले जीव ही मुनि हैं, भावलिंगी संत हैं इसप्रकार यथार्थ निर्णय हमें करना चाहिए।

छठवां-सातवां और ऊपर के सभी गुणस्थान एकमात्र मनुष्यगति के जीव को ही- पुरुष को ही प्राप्त हो सकते हैं।

छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलनेवाला कोई जीव जब अंतरंग में अधिक स्थिरता करता है तब उसके परिणाम अधिक निर्मल होते हैं और बढ़ती

हुअी वीतरागता के साथ उसे ऊपर के गुणस्थान प्राप्त होते हैं। आठवां, नववां, दसवां, ग्यारहवां या आठवां, नववां, दसवां, बारहवां गुणस्थान क्रमसे प्राप्त होते हैं। इन चार गुणस्थानों को श्रेणी के गुणस्थान कहते हैं। या कहते हैं कि मुनि ने श्रेणी मांड़ी है या श्रेणी पर आरूढ़ हुअे हैं।

इसमें दो प्रकार से श्रेणी मांडी जाती है - श्रेणी का आरोहण होता है। एक उपशमश्रेणी और दूसरी क्षपकश्रेणी। उपशमश्रेणी में चारित्रमोहनीय कर्म की 21 प्रकृतियों का उपशम होता है और ग्यारहवां उपशांतमोह गुणस्थान प्राप्त होता है। क्षपकश्रेणी में उन 21 प्रकृतियों का क्षय होता है और बारहवां क्षीणमोह गुणस्थान प्राप्त होता है।

इसतरह छठवें गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान तक सभी गुणस्थान मुनिराजों के ही गुणस्थान हैं। वैसा देखा जाये तो अरहंत भगवान को भी महामुनि कहते हैं।

उपशम श्रेणीवाला जीव ग्यारहवें गुणस्थान में एक अंतर्मुहूर्त रहता है और उपशम काल पूर्ण होने पर दसवें में, वहाँ से नववें में, वहाँ से आठवें में और वहाँ से सातवें और बाद में छठवें में क्रम से आता है। उसके पश्चात् छठवां-सातवां गुणस्थान चलता रहता है।

क्षपक श्रेणीवाला जीव दसवें गुणस्थान के अंतिम समय में चारित्रमोहनीय कर्म का क्षय करके बारहवें गुणस्थान में जाता है। दर्शनमोहनीय कर्म का क्षय तो पहले ही हो चुका है। इसलिए बारहवें गुणस्थान में मोहनीय कर्मकी सत्ता ही नहीं रहती परंतु अन्य तीन घातिकर्मों की सत्ता और उदय रहता है।

बारहवें गुणस्थान के अंत में इन तीन घातिकर्मों का पूर्ण क्षय करके जीव तेरहवें गुणस्थान में जाता है। बारहवें गुणस्थान में पूर्ण वीतरागी बना हुआ जीव तेरहवें गुणस्थान में क्षायिक ज्ञान प्राप्त होने से सर्वज्ञ बन जाता है, इसे सयोगकेवली गुणस्थान कहते हैं। इस जीव को अनंतदर्शन, अनंतज्ञान, अनंतसुख और अनंतवीर्य की अर्थात् अनंत चतुष्टय की प्राप्ति होती है।

इसका तात्पर्य यह है कि सातवें गुणस्थानवाला जीव स्वरूप में लीन था, उसके अनंतर श्रेणी पर आरूढ होने पर उस जीव ने विशेष स्वरूपस्थिरता बढ़ायी और वीतरागता में वृध्दि हुअी। उसी स्वरूपस्थिरता द्वारा वीतरागता और उसी द्वारा सर्वज्ञता - केवलज्ञान की प्राप्ति हुअी। वीतरागता और सर्वज्ञता स्वभाव में थी वह प्रकट हुअी, कहीं बाहर से नहीं आयी। उसके पश्चात् अनंत काल तक ये स्वभावपर्यायें होती ही रहती हैं।

स्वभाव की महिमा तो अगाध है उसका वर्णन कहाँ तक करें ? वस्तु और वस्तु का स्वभाव अनादिअनंत है, स्वयंसिध्द है, परिपूर्ण है, असहाय है अर्थात् उसे किसी के सहाय की जरूरत नहीं है, अमर्यादित यानि असीम है ।

अरहंतों ने जैसा स्वभाव है वैसी पर्याय प्रकट की है परंतु उनका स्वभाव तो उनके द्रव्य में अनादिकाल से ही विद्यमान था । हे जीव ! तू भी ऐसे स्वभाव से परिपूर्ण है । अभी इसी समय तू अरहंत के समान ज्ञानस्वभावी है । बस, मात्र उस स्वभाव की ओर देखने की जरूरत है अर्थात् अपना प्रकट ज्ञान स्वभावसन्मुख करके जानने की आवश्यकता है। जिस समय तू स्वयं को जानेगा उसी समय से हे जीव तेरा मोक्षमार्ग प्रारंभ होगा, तुझे आत्मानंद का अनुभव होगा, सम्यग्दर्शन प्रकट होगा, अरहंत-सिध्द बनने की तेरी प्रक्रिया प्रारंभ होगी ।

हे जीव ! जिस मार्ग को तूने आज तक कष्टदायक माना था वह मार्ग तो एक महान आनंदयात्रा है । उसमें निरंतर बढ़ते हुअे आनंद के साथ तू अनंत सुख की ओर बढ़ता रहेगा, अग्रेसर होगा । एक बार तू अपनी चैतन्य गुफ़ा में झांक तो सही । आनंद के निधान तुझ पर बरस पड़ेंगे ।

अरहंत अवस्थामें तेरहवां सयोगकेवली और चौदहवां अयोगकेवली दो गुणस्थान होते हैं । इनके नाम से ही पता चलता है कि ये केवली के गुणस्थान हैं । ज्ञान की पूर्ण विकसित अवस्था को केवलज्ञान या क्षायिकज्ञान कहते हैं । उनके ज्ञानावरण कर्म का पूर्ण क्षय हुआ है ।

पहले गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान तक के जीवों को अल्पज्ञ या छद्मस्थ कहते हैं । छद्म यानि ढ़का हुआ - आवरण सहित । जिसके ज्ञानावरण कर्म का सद्भाव यानि आवरण है उसे छद्मस्थ कहते हैं ।

तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान के नाम में योग शब्द है । सयोग यानि योगसहित और अयोग यानि योगरहित । सयोग शब्द अन्त्यदीपक है अर्थात् पहले गुणस्थान से तेरहवें गुणस्थान के अंत तक के सभी जीव योगसहित

हैं। आत्मप्रदेशों का सकंप होना योग कहलाता है और कंपन रुकना अयोग कहलाता है।

कर्म का बंध कैसे होता है इसकी चर्चा हमने पहले की थी। आत्मप्रदेशों के कंपन के कारण यानि योग के कारण कर्म और नोकर्म आत्मा की ओर आकर्षित होते हैं। इसका अर्थ ऐसा हुआ कि जब तक योग के कंपन का सद्भाव है तब तक कर्म और नोकर्म का ग्रहण होता रहता है। कवलाहार न होने पर भी जीव अरहंत अवस्था में लाखों - करोड़ों वर्ष तक जीवित रहता है क्योंकि वहाँ नोकर्मवर्गणा का ग्रहण निरंतर चालू रहता है।

अरहंतों का शरीर परम औदारिक शरीर है। जीव जब बारहवें गुणस्थान में प्रवेश करता है उस समय से लेकर बारहवें गुणस्थान के अंतर्मुहूर्त काल तक उसके शरीर के आधार से रहनेवाले बादर निगोद जीव निकल जाते हैं और तेरहवें गुणस्थान के पहले समय में औदारिक शरीर परम औदारिक बनता है।

तीर्थंकरों एवं कई अरहंतों की दिव्यध्वनि खिरती है, भव्य जीवों को उनसे मोक्षमार्ग का उपदेश प्राप्त होता है। अरहंतों का विहार भी होता है परंतु उनको आहार यानि भोजन नहीं होता इस बात की हम पहले चर्चा कर चुके हैं। अरहंत अवस्था में कोई भी उपसर्ग नहीं होता, पहले मुनि अवस्था में उपसर्ग हो रहा हो तो वह भी मिट जाता है।

केवलज्ञान की प्राप्ति के साथ ही तेरहवां गुणस्थान प्रारंभ होता है। उनके आयु का अंतिम एक अंतर्मुहूर्त काल शेष रहने तक तेरहवां गुणस्थान रहता है। पांच लघु स्वर - अ, इ, उ, ऋ, ऌ के उच्चारण में जितना काल लगता है उतना लघु अंतर्मुहूर्त काल चौदहवें गुणस्थान का है। इस गुणस्थान में अघाति कर्मों में से 85 प्रकृति की सत्ता रहती है। उनका नाश करके जीव पूर्णरूप से कर्म विरहित सिध्द परमेष्ठी हो जाता है। शरीर के परमाणु बिखर जाते हैं। जीव उसी समय में ऊर्ध्वगमन करके लोकाकाश के शिखर पर जाकर विराजमान होता है। अनंतकाल तक वहीं पर रहता है।

सभी गुणों की स्वभावपर्यायें होती रहती हैं, जीव अपनी परिपूर्ण शुध्द अवस्था में रहता है। इसतरह सिध्द भगवान गुणस्थानातीत होते हैं।

बेटीयों, हमारा प्रत्येक का स्वभाव भी सिध्दसमान ही है। यह स्वरूप यानि स्वभाव तो विद्यमान है, प्राप्त है। हमें प्राप्त की प्राप्ति पर्याय में करनी है। सिध्द भगवान का स्वरूप जानकर उनके जैसा - उनके जितना ही हमें अपना स्वभाव मानना चाहिए। परंतु आज तक हम अपने आप को सिध्दों से अधिक मानते आ रहे थे।

क्यों, सच नहीं ना लगता ? बहुत से लोग कहेंगे कि, `अरे, हमने तो स्वयं को सिध्दों से हीन माना हैं और आप तो अधिक मानने की बात कर रही हैं, यह कैसे संभव है ?'

सिध्द भगवान और हमारा स्वभाव इनमें समानता है। जब तक हमने अपने स्वभाव को नहीं जाना है तब तक हमने क्या माना उसे देखते हैं। सिध्द अकेले हैं, हमने स्वयं को बालबच्चे परिवार आदि सहित माना। सिध्द शरीररहित हैं, हमने स्वयं को शरीरसहित या शरीर को ही स्व माना। सिध्द रागरहित हैं, हमने स्वयं को रागवाला माना, कषायसहित माना। सिध्द कर्मरहित हैं, हमने स्वयं को कर्म और उसके उदय के साथ एकमेक माना। सिध्द परद्रव्य का अकर्ता हैं, हमने स्वयं को परद्रव्य का कर्ता माना। सिध्द परद्रव्य का अभोक्ता हैं, हमने स्वयं को परद्रव्यों और इंद्रिय विषयों का भोक्ता माना। सिध्द केवलज्ञानी हैं, हमने स्वयं को प्रकट ज्ञान जितना माना। सिध्द गुणस्थानातीत हैं, हमने स्वयं को गुणस्थानरूप माना, स्वयं को मिथ्यादृष्टि माना।

पर और पर्याय ज्ञान में आते हैं, उनकी विद्यमानता है परंतु जब स्वभाव का ज्ञान करके, त्रिकाली एकरूप ध्रुव स्वभाव में एकाग्र होने के लिए जिस विशिष्ट दृष्टि से स्व की ओर देखा जाता है तब एकमात्र स्वभाव ही उस दृष्टि में गोचर होता है, अन्य सभी बातें उस दृष्टि में-उसके विषय में नहीं आती।

इसीलिए इन सभी बातों का सर्वांगीण ज्ञान होने के पश्चात् निजध्रुवशुध्दात्मा की दृष्टि कराने के लिए समयसार ग्रंथ में 56 वीं गाथा में कहा है कि ये वर्णादि से गुणस्थानपर्यंत सभी भाव व्यवहारनय से जीव के कहने पर भी वास्तव में अर्थात् निश्चयनय से उसमें एक भी जीव व नहीं है।

वर्णादि 29 भाव कौनसे हैं इसका कथन समयसार गाथा 50 से 55 किया हुआ है। मुझे लगता है कि तुम स्वयं इसे समयसार में से पढ़ो। फि भी मैं मेरे अपने अभ्यास के लिए यहाँ लिख रही हूँ।

जीव के वर्ण नहीं, गंध नहीं, रस नहीं, स्पर्श भी नहीं, रूप नहीं, शरीर नहीं, संस्थान नहीं, संहनन भी नहीं। जीव के राग नहीं,द्वेष नहीं, मोह नहीं, प्रत्यय (आस्रव) नहीं, कर्म नहीं, नोकर्म भी नहीं। जीव के वर्ग नहीं, वर्गणा नहीं, स्पर्धक नहीं, अध्यात्मस्थान नहीं, अनुभागस्थान भी नहीं। जीव के योगस्थान नहीं, बंधस्थान नहीं, उदयस्थान नहीं, मार्गणास्थान नहीं। जीव के स्थितिबंधस्थान नहीं, संक्लेशस्थान नहीं, विशुध्दिस्थान नहीं। जीव के संयमलब्धिस्थान नहीं, जीवस्थान नहीं अथवा गुणस्थान भी नहीं।

तुम कहोगी कि यह नहीं वह नहीं तो क्या आत्मा शून्य स्वरूप है ? आचार्य अमृतचंद्र समयसार कलश 37 में कहते हैं कि वर्णादि सब भाव इस आत्मा से भिन्न हैं इसलिए अंतर्दृष्टि से देखनेवाले को ये कुछ भी नहीं दिखते। मात्र एक सर्वोत्कृष्ट तत्त्व ही दिखाई देता है। मात्र एक चैतन्यभावस्वरूप अभेदरूप आत्मा ही दिखता है।

हम भी अपने निजशुध्दात्मा की दृष्टि करें।

– तुम्हारी माँ

****

गुणस्थान - विभाजन, गमनागमन व काल

पत्रांक 13 ॥ ॐ नमः सिध्देभ्यः ॥ 6 सितम्बर 1999

प्रिय रीना एवं मोना,

अनेक उत्तम शुभाशीर्वाद ।

हमने स्थूलरूप से चौदह गुणस्थानों का स्वरूप देखा । अब सभी गुणस्थानों का एक साथ भिन्न भिन्न अपेक्षाओं से मूल्यमापन करेंगे ।

चौदह गुणस्थानों के नाम अब तक तुम्हें कंठस्थ हुअे होंगे । न भी हुअे हो, तो अब करो । वे इस प्रकार हैं - (1) मिथ्यात्व (2) सासादन सम्यक्त्व (3) सम्यग्मिथ्यात्व (4) अविरत सम्यक्त्व (5) देशविरत (6) प्रमत्तविरत (7) अप्रमत्तविरत (8) अपूर्वकरण (9) अनिवृत्तिकरण (10) सूक्ष्मसांपराय (11) उपशांतमोह (12) क्षीणमोह (13) सयोगकेवली (14) अयोगकेवली ।

मोह और योग की अपेक्षा से ये चौदह गुणस्थान होते हैं इसकी हमने पहले ही चर्चा की थी । वे इस प्रकार हैं -

(1) दर्शनमोहनीय कर्म के सद्‌भाव या असद्‌भाव की अपेक्षा से –

पहले चार गुणस्थानों में से पहले गुणस्थान में दर्शनमोहनीय कर्म के मिथ्यात्व प्रकृति का उदय रहता है, तीसरे गुणस्थान में सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति का उदय रहता है और चौथे गुणस्थान में सम्यक्‌प्रकृति का उदय या इन तीनों प्रकृति का उपशम या क्षय वर्तता है । दूसरे गुणस्थान में दर्शनमोहनीय कर्म की उदय, उपशम, क्षय या क्षयोपशम में से कोई भी अवस्था नहीं पायी जाती इसकारण वहाँ दर्शनमोहनीय की अपेक्षा पारिणामिक भाव कहा है फिर भी वहाँ अनंतानुबंधी का उदय रहता है ।

(2) चारित्रमोहनीय कर्म के सद्‌भाव या असद्‌भाव की अपेक्षा से –

यह अपेक्षा पांचवें से बारहवें गुणस्थानों में पायी जाती है ।

पांचवें गुणस्थान में अनंतानुबंधी और अप्रत्याख्यानावरण इन दो कषाय कर्मों का अभाव है परंतु वहाँ प्रत्याख्यानावरण, संज्वलन और नोकषाय कर्मों का सद्‌भाव है । छठवें गुणस्थान में तीन कषाय चौकडी का अभाव और *संज्वलन कषाय कर्मोंका तीव्र उदय है ।*

सातवें गुणस्थान में संज्वलन कषाय कर्म का मंद उदय है ।

आठवें गुणस्थान में संज्वलन कषाय कर्म का मंदतर उदय है ।

नववें गुणस्थान में संज्वलन कषाय कर्म का मंदतम उदय है।

दसवें गुणस्थान में केवल संज्वलन के सूक्ष्म लोभ कषाय कर्म का उदय है।

ग्यारहवें गुणस्थान में चारित्रमोहनीय कर्म की 21 प्रकृति (अप्रत्याख्यानावरण 4, प्रत्याख्यानावरण 4, संज्वलन 4 और नोकषाय 9) का उपशम है। बारहवें गुणस्थान में उपरोक्त 21 प्रकृति का क्षय है।

(3) योग के सद्भाव की अपेक्षा से –

तेरहवां गुणस्थान योग की सद्भाव की मुख्यता से है।

(4) योग के अभाव की मुख्यता से –

चौदहवें गुणस्थान में योग का अभाव है।

अब अन्य अपेक्षाओं की चर्चा करते हैं।

(5) अविरत या विरत की अपेक्षा से –

पहले से चौथे तक सभी चारों गुणस्थान अविरत ही हैं।

पांचवां गुणस्थान विरताविरत है। छठवें गुणस्थान से ऊपर के सभी गुणस्थानवर्ती जीव विरत हैं।

(6) अज्ञानी और ज्ञानी की अपेक्षा से –

पहले तीन गुणस्थान अज्ञानी जीवों के हैं।

चौथे से चौदहवें गुणस्थान तक के सभी जीव ज्ञानी अर्थात् सम्यग्ज्ञानी हैं।

(7) अल्पज्ञ और सर्वज्ञ की अपेक्षा से –

1 से 12 गुणस्थानवर्ती जीव अल्पज्ञ हैं। 13 वें और 14 वें गुणस्थानवर्ती जीव सर्वज्ञ हैं। ये दोनों गुणस्थान केवली के हैं।

(8) श्रावक की अपेक्षा से –

4 थे और 5 वें गुणस्थानवर्ती जीव श्रावक हैं।

(9) गुरु अर्थात् मुनि की अपेक्षा से –

1) प्रमत्त-अप्रमत्त गुरु -6 ठवें-7 वें गुणस्थान में झूलनेवाले भावलिंगी संत।

2) श्रेणीपर आरूढ गुरु - 8 वें से 12 वें गुणस्थान तक के गुरु।

3) परमगुरु - 13 वें, 14 वें गुणस्थान के जीव अर्थात् अरहंत परमात्मा।

(10) श्रेणी की अपेक्षा से –

1) उपशम श्रेणीवाले जीव - 8 वें, 9 वें, 10 वें और 11 वें उपशामक

गुणस्थानवर्ती मुनि । 11 वें के अनंतर वे नियम से क्रमशः नीचे 6 वें तक आते हैं ।

2) क्षपक श्रेणीवाले जीव - 8 वें, 9 वें, 10 वें और 12 वें क्षपक गुणस्थानवर्ती मुनि ।

(11) प्रमत्त और अप्रमत्त भाव की अपेक्षा से –

1 से 6 गुणस्थान प्रमत्तभावसहित हैं ।

7 वें से 14 वें तक के सभी गुणस्थान अप्रमत्तभावसहित हैं ।

(12) योग और अयोग की अपेक्षा से –

1 ते 13 गुणस्थान योग सहित हैं यानि सयोगी हैं और केवल 14 वें गुणस्थान के जीव अयोगी हैं ।

(13) रागी और वीतरागी की अपेक्षा से –

1) 1 से 3 गुणस्थानों में मात्र रागी जीव ही हैं, मोक्षमार्ग के विराधक हैं । वहाँ वीतरागभाव अंशभात्र भी नहीं है ।

2) 4 थे से 10 वें गुणस्थान तक वीतरागता के साथ राग भी है परंतु वहाँ क्रम से वीतरागता बढ़ती जाती है ओर राग घटता जाता है ।

3) 11 वें, 12 वें, 13 वें और 14 वें गुणस्थानवर्ती जीव पूर्ण वीतरागी हैं ।

11 वें और 12 वें गुणस्थानवर्ती जीवों को वीतराग छद्मस्थ कहते हैं ।

13 वें और 14 वें गुणस्थानवर्ती जीवों को वीतराग सर्वज्ञ कहते हैं ।

(14) सुख और दुःख की अपेक्षा से –

मिथ्यादर्शन, अज्ञान और असंयम दुःख के कारण हैं । इसलिए निम्न विभाजन होगा ।

1) 1 से 3 गुणस्थानवर्ती जीव नियम से दुःखी हैं ।

2) 4 से 10 गुणस्थानवर्ती जीव कुछ प्रमाण में सुखी और कुछ प्रमाण में दुःखी हैं । जितनी वीतरागता है उतना सुख है और जितना राग बाकी होगा उतना दुःख है ।

3) 11 और 12 गुणस्थानवर्ती जीव पूर्ण वीतरागी होने के कारण पूर्ण सुखी हैं ।

4) 13 और 14 गुणस्थानवर्ती जीव अनंतसुखी हैं क्योंकि उनके केवलज्ञान यानि अनंतज्ञान और अनंतवीर्य प्रकट हुआ है, सुख भी अनंतसुखरूप से परिणमित है ।

(15) बहिरात्मा, अंतरात्मा, और परमात्मा की अपेक्षा से –

1) 1 से 3 गुणस्थान बहिरात्मा के हैं।

2) 4 से 12 गुणस्थान अंतरात्मा के हैं।

3) 13 वां और 14 वां गुणस्थान परमात्मा का है।

(16) अशुभोपयोगी, शुभोपयोगी और शुध्दोपयोगी की अपेक्षा से –

1) 1 से 3 गुणस्थानवर्ती जीव मुख्यतः अशुभोपयोगी हैं।

2) 4 से 6 गुणस्थानवर्ती जीव मुख्यतः शुभोपयोगी हैं।

4 थे और 5 वें में कभी कभी शुध्दोपयोग होता है इसलिए वे गौणरूप से शुध्दोपयोगी हैं।

3) 7 से 14 गुणस्थानवर्ती जीव शुध्दोपयोगी हैं।

(17) धार्मिक या अधार्मिक की अपेक्षा से –

1) 1 से 3 गुणस्थान अधार्मिक जीवों के हैं क्योंकि धर्म यानि मोक्षमार्ग अभी प्रकट नहीं हुआ है।

2) 4 से 14 गुणस्थान धार्मिक जीवों के हैं।

(18) मिथ्या और सम्यक् चारित्र की अपेक्षा से –

1) 1 से 3 गुणस्थानों में मिथ्याचारित्र है।

2) 4 से 14 गुणस्थानों में सम्यक्चारित्र है।

इससे पता चलता है कि बाह्य व्रतों का स्वीकार करने के बाद भी जब तक आत्मानुभव नहीं होता तब तक उस जीव को सम्यक्चारित्र नहीं हो सकता।

इसतरह और भी अपेक्षायें लगा सकते हैं। इन सब का अभ्यास करने पर हमें गुणस्थानों और मोक्षमार्ग का स्वरूप स्पष्ट समझ में आता है। ये सारी अपेक्षायें ब्र. पं. श्री. यशपालजी जैन के `गुणस्थान विवेचन' पुस्तक में से उध्दृत की हुअी हैं। तुम वह पुस्तक अवश्य पढ़ना उसमें विस्तारसहित वर्णन है।

अब संक्षेप में गमनागमनसंबधी विचार करेंगे। जीव के परिणाम निरंतर एक सदृश नहीं रहते। सम्यक्त्व प्राप्ति के बाद भी जीव वापस नीचे के गुणस्थानों में आ सकता है और दुबारा पुरुषार्थ करके फिर से ऊपर के गुणस्थान प्राप्त कर सकता है। 1 ले गुणस्थान से 4 थे में जा सकता है। व्रत धारण किया हुआ द्रव्यलिंगी श्रावक अधिक पुरुषार्थ करके 1 ले से 5 वें गुणस्थान में जा सकता है। कोई द्रव्यलिंगी मुनि पुरुषार्थ करके 1 ले से सीधे 7 वे में गमन कर सकता है। तीन कषाय चौकडी का अभाव करनेवाला द्रव्यलिंगी मुनि सातवें में जायेगा, जिसके दो कषाय चौकडी का अभाव हो वह

द्रव्यलिंगी मुनि पांचवें में जायेगा और जिसके एक कषाय चौकडी का अभाव हो वह द्रव्यलिंगी मुनि 4 थे में जायेगा । सादि मिथ्यादृष्टि अर्थात जो एक बार सम्यक्त्व प्राप्त करने के बाद वापस मिथ्यात्व में आया है ऐसा जीव 3 रे गुणस्थान में जा सकता है ।

अब सभी गुणस्थानों के गमनागमन आकृतियों द्वारा देखते हैं ।

1 ले गुणस्थान का गमनागमन –

गमन - 1 ले गुणस्थान से 4 थे, 5 वें, 7 वें गुणस्थान में और 3 रे गुणस्थान में जा सकता है ।

अब 1 ले में कहाँ कहाँ से आता है उसे देखेंगे ।

आगमन - 6 ठे, 5 वें, 4 थे, 3 रे और 2 रे में से आयेगा ।

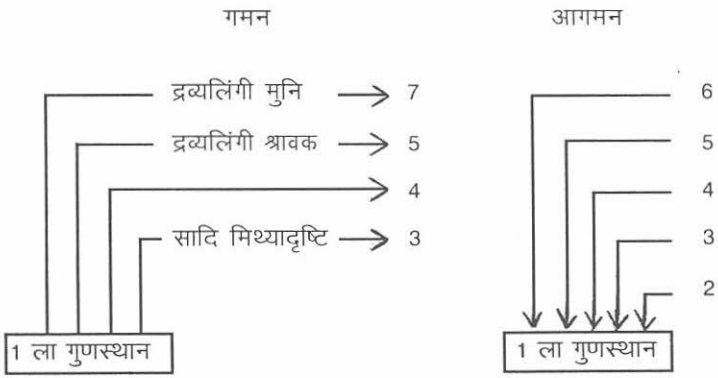

2 रे गुणस्थान का गमनागमन –

गमन - एकमात्र मिथ्यात्व गुणस्थान में होता है ।

आगमन - 6 ठवें, 5 वें, 4 थे में से औपशमिक सम्यक्त्वी जीव के अनंतानुबंधी के उदय से दूसरे गुणस्थान में आगमन होता है ।

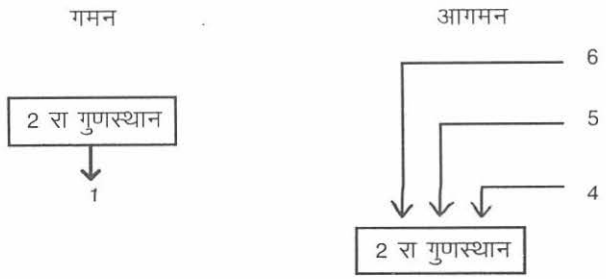

3 रे गुणस्थान का गमनागमन –

गमन - 3 रे से गमन 1 ले में या 4 थे में होता है।

आगमन - 3 रे में आगमन 6 वें, 5 वें, 4 थे या 1 ले में से होता है।

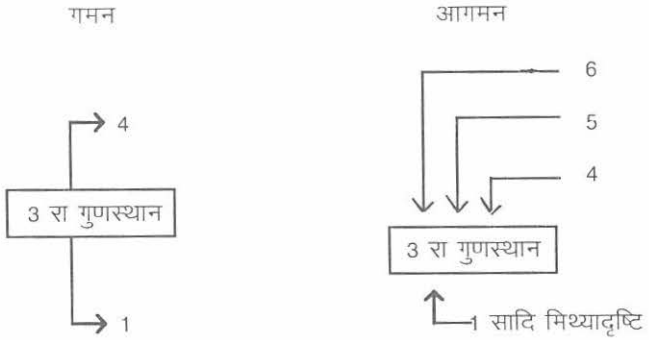

4 थे गुणस्थान का गमनागमन –

गमन - 7 वें, 5 वें, 3 रे, 2 रे, या 1 ले में होता है।

आगमन - 6 वें, 5 वें, 3 रे या 1 ले में से होता है।

उपशम श्रेणीवाला जीव तथा 5 वें, 6 वें, 7 वें गुणस्थानवाला जीव मरण होने पर अनंतर समय में चौथे गुणस्थान में आता है।

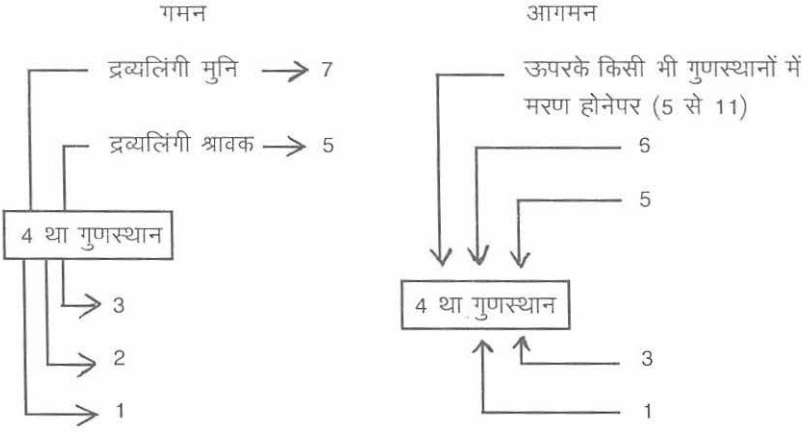

5 वें गुणस्थान का गमनागमन –

गमन - द्रव्यलिंगी मुनि 5 वें से 7 वें में गमन करता है। 5 वें में से नीचे की ओर जीव 4 थे, 3 रे, 2 रे या 1 ले गुणस्थानों में गमन करता है।

आगमन - 6 ठवें, 4 थे या 1 ले में से होता है।

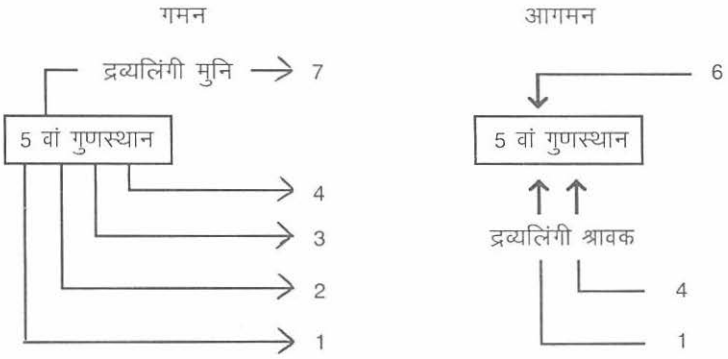

6 ठवें गुणस्थान का गमनागमन –

गमन - ऊपर 7 वें में और नीचे के सभी गुणस्थानों में हो सकता है यानि 5 वें, 4 थे, 3 रे, 2 रे या 1 ले में गमन होता है।

आगमन - एकमात्र 7 वें गुणस्थान से ही होता है।

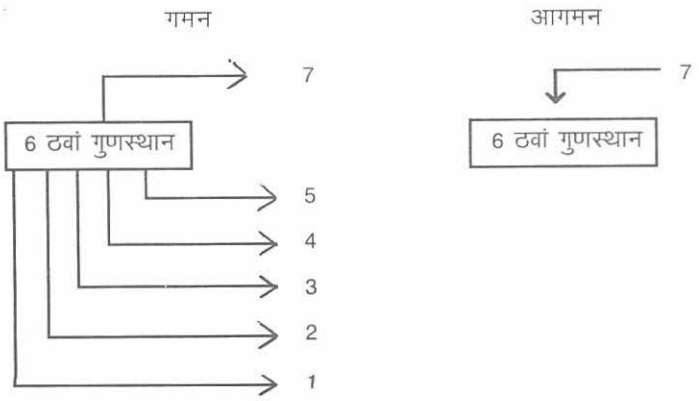

7 वें गुणस्थान का गमनागमन –

गमन - श्रेणी मांडते हुअे 8 वें में, अन्यतः 6 ठवें में गमन होता है।

आगमन - 1 ले, 4 थे, 5 वें और 6 ठवें में से होता है। 1 ले, 4 थे, 5 वें से 7 वें में आनेवाले जीव के द्रव्यलिंगी मुनि होना आवश्यक है। 6 वें गुणस्थानवाले तो स्वयं भावलिंगी मुनि हैं। 8 वें उपशामक गुणस्थान से गिरते समय भी आगमन होता है।

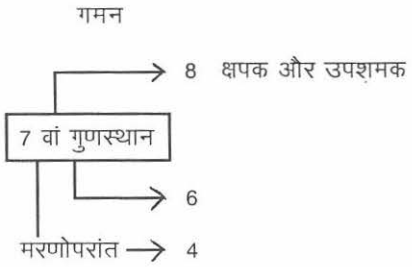

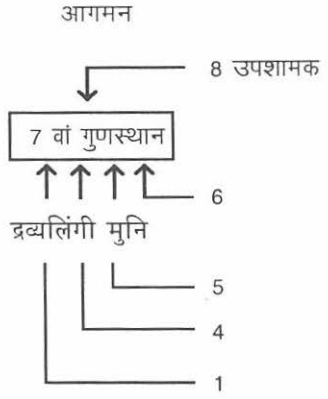

8 वें गुणस्थान का गमनागमन –

गमन - 8 वें में से 9 वें में होता है। उपशामक जीव श्रेणी उतरकर फिर से 7 वें में जाता है। मरण होने पर 4 थे में जाता है।

उपशामक जीव का श्रेणी चढते समय 8 वें के पहले भाग में मरण नहीं होता।

आगमन - 7 वें सातिशय अप्रमत्त से होता है। उपशम श्रेणी उतरते हुअे 9 वें में से भी आगमन होता है।

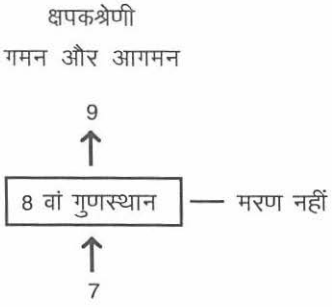

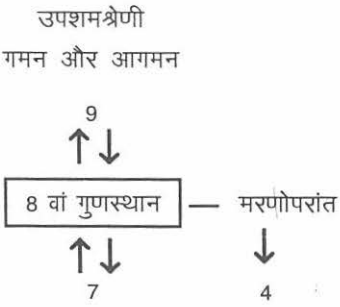

9 वें गुणस्थान का गमनागमन –

गमन - 9 वें से 10 वें में होता है। उपशामक जीव श्रेणी उतरते समय 9 वें से 8 वें में गमन करता है। मरण होगा तो 4 थे में गमन होता है।

आगमन - 8 वें में से 9 वें में होता है। उपशम श्रेणी उतरते हुऐ 10 वें में से भी आगमन होता है।

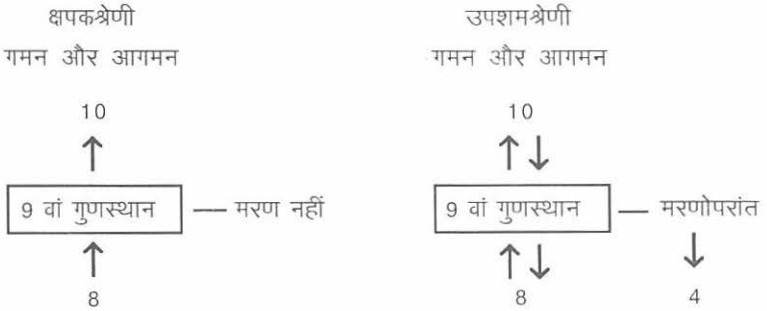

10 वें गुणस्थान का गमनागमन –

क्षपकश्रेणी में गमन - 10 वें से 12 वें में होता है। क्षपक श्रेणी में मरण नहीं होता।

क्षपकश्रेणी में आगमन - 9 वें से 10 वें में होता है।

उपशम श्रेणी में गमन - 10 वें से 11 वें में होता है अथवा श्रेणी उतरते समय 10 वें से 9 वें में होता है। मरण होने पर 4 थे में गमन होता है।

उपशम श्रेणी में आगमन - 9 वें में से या 11 वें में से 10 वे में होता है।

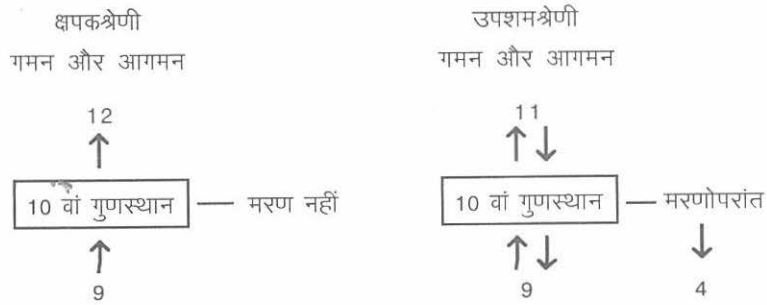

11 वें गुणस्थान का गमनागमन –

गमन - यह मात्र उपशम श्रेणी का ही गुणस्थान है। यहाँ से गमन नीचे की ओर ही होता है अर्थात् 10 वें में होता है। मरण के पश्चात् 4 थे में गमन होता है।

आगमन - एकमात्र 10 वें में से होता है।

गमन और आगमन

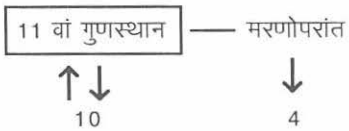

12 वें गुणस्थान का गमनागमन –

यह मात्र क्षपक श्रेणी का गुणस्थान है। यहाँ मरण नहीं होता।
गमन - 12 वें से गमन 13 वें में होता है।
आगमन - 12 वें में आगमन 10 वें में से होता है।

गमन और आगमन

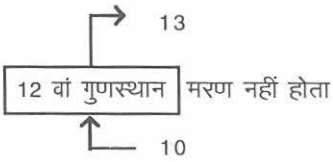

13 वें गुणस्थान का गमनागमन –

गमन - 13 वें से 14 वे में गमन होता है।
आगमन - 13 वें में आगमन 12 वें में से होता है।

गमन व आगमन

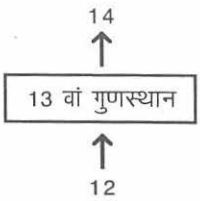

14 वें गुणस्थान का गमनागमन –

गमन - 14 वें गुणस्थान से जीव गुणस्थानातीत सिध्द परमेष्ठी बनता है।

आगमन - 14 वें में आगमन 13 वें में से होता है।

गमन और आगमन

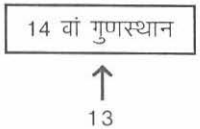

गमनागमन देखने के बाद अब गुणस्थानों का काल देखेंगे। विवक्षित गुणस्थान में जीव अधिक से अधिक कितने काल तक रह सकता है उसे उस गुणस्थान का 'उत्कृष्ट काल' कहते हैं और कम से कम रहेगा तो कितने काल तक रहेगा उसे 'जघन्य काल' कहते हैं। अब सादि, अनादि वगैरह शब्दों के अर्थ देखते हैं।

अनादि – जिसे आदि अर्थात् प्रारंभ नहीं है।

अनंत – जिस का अंत नहीं है।

सादि – स + आदि - जिसे कभी ना कभी प्रारंभ होता है।

सांत – स + अंत - जिसका अंत होता है।

इसमें 4 प्रकार हो सकते हैं - अनादिअनंत, अनादिसांत, सादिअनंत और सादिसांत। अब एक जीव की अपेक्षा गुणस्थानों का काल देखते हैं।

1 ले मिथ्यात्व गुणस्थान का काल –

अभव्य जीव की अपेक्षा अनादि अनंत है। दूरानुदूर भव्य कि जो पात्रता होने पर भी अनंत काल के बाद भी मोक्ष नहीं पायेगा उसके मिथ्यात्व का काल भी अनादिअनंत है। जो जीव सम्यक्त्व प्राप्त करता है उसके मिथ्यात्व गुणस्थान का काल अनादिसांत है। सादि मिथ्यादृष्टि यानि जिसने एक बार सम्यक्त्व प्राप्त करके जो वापस मिथ्यात्व में आया है उसके मिथ्यात्व का काल सादिसांत है। उसका उत्कृष्ट काल किंचित् न्यून अर्धपुद्गल परावर्तन है। जघन्य काल एक अंतर्मुहूर्त है।

2 रे सासादन गुणस्थान का काल –

उत्कृष्ट काल - 6 आवलि और जघन्य काल एक समय है ।

3 रे सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान का काल –

यथायोग्य अंतर्मुहूर्त है, उसमें जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट भेद नहीं होते।

4 थे अविरत सम्यक्त्व गुणस्थान का काल –

उत्कृष्ट काल साधिक 33 सागर वर्ष और जघन्य काल एक अंतर्मुहूर्त है।

5 वें देशविरत गुणस्थान का काल –

उत्कृष्ट काल - मनुष्य में 1 करोड पूर्व वर्षो में से गर्भकालसहित 8 वर्ष और एक अंतर्मुहूर्त कम करके शेष बचा हुआ काल उत्कृष्ट काल है। तिर्यंच में सम्मूर्च्छन तिर्यंच की अपेक्षा 1 करोड पूर्व वर्षो में से एक अंतर्मुहूर्त कम करने पर शेष बचा हुआ काल उत्कृष्ट काल है । देखो तो सही, मनुष्य 5 वां गुणस्थान 8 वे सालके बाद प्राप्त कर सकता है परंतु तिर्यंच जन्म के एक अंतर्मुहूर्त पश्चात् ही प्राप्त कर सकता है ।

6 ठवें प्रमत्तविरत गुणस्थान का काल –

उत्कृष्ट काल यथायोग्य एक अंतर्मुहूर्त है उसके पश्चात् नियम से 7 वें में शुध्दोपयोग में जाता है, यदि न जाये तो मुनिपद छूटकर नीचे के गुणस्थानों में गमन होता है । जघन्य काल एक समय है । यह कैसे संभव है देखते हैं । कोई मुनिराज 7 वें अप्रमत्त गुणस्थान में से 6 ठवें में आये और वहाँ एक समय व्यतीत होते ही मरण को प्राप्त हुअे तो उनके 6 ठें गुणस्थान का काल एक समय होगा । जघन्य से लेकर उत्कृष्ट तक सभी भेद मध्यमकाल के हैं, जो मरण की अपेक्षा से होते हैं ।

7 वें अप्रमत्तविरत गुणस्थान का काल –

उत्कृष्ट काल यथायोग्य एक अंतर्मुहूर्त है । जघन्य काल एक समय है। 6 ठवें से 7 वें में जानेवाले या उपशम श्रेणी के 8 वें से उतरकर 7 वें में जानेवाले मुनिराज का एक समय व्यतीत होते ही मरण हो जाये तो 7 वें का जघन्य काल एक समय होगा । याद रहें कि सर्वप्रथम सम्यक्त्व प्राप्ति के साथ 7 वां गुणस्थान प्राप्त होता है ऐसे प्रथमोपशम सम्यक्त्वसहित जीव का मरण नहीं होता । जघन्य और उत्कृष्ट के बीच के सभी भेद मध्यम काल के हैं, वे भी मरण की अपेक्षा से होते हैं ।

8 वें अपूर्वकरण गुणस्थान का काल –

उत्कृष्ट यथायोग्य अंतर्मुहूर्त है । परंतु जघन्य काल 1 समय है । उपशम श्रेणी चढ़ते हुअे 8 वें के प्रथम भाग में मरण नहीं होता परंतु उपशम श्रेणी उतरते हुअे 9 वें में से 8 वें में आते ही 1 समय में मरण होगा तो 8 वें का जघन्य काल 1 समय हैं। यहाँ भी मरण की अपेक्षा जघन्य से उत्कृष्ट तक मध्यम काल के अनेक भेद होते हैं । ध्यान रहें, क्षपक श्रेणी में मरण नहीं होता, इसलिए क्षपक श्रेणी में जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट भेद नहीं होते।

9 वें अनिवृत्तिकरण गुणस्थान का काल –

उत्कृष्ट काल यथायोग्य अंतर्मुहूर्त है । जघन्य काल 1 समय है - उपशम श्रेणी चढते या उतरते समय 9 वें में आते ही 1 समय रहकर मरण हो जायें तो जघन्य काल 1 समय है । मध्यम काल के सर्व भेद भी मरण की अपेक्षा से हैं। क्षपक श्रेणी में मरण नहीं इसलिए काल के भेद भी नहीं हैं ।

10 वें सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान का काल –

उत्कृष्ट काल यथायोग्य अंतर्मुहूर्त है । जघन्य काल 1 समय है । उपशम श्रेणी चढते या उतरते समय 10 वें गुणस्थान में आकर 1 समय में मरण हो जाये तो जघन्य काल 1 समय है। जघन्य और उत्कृष्ट के बीच मरण की अपेक्षा से मध्यम काल के अनेक भेद होते हैं । क्षपक श्रेणी में मरण नहीं होता इसलिए उसमें काल के भेद भी नहीं हैं ।

11 वें उपशांतमोह गुणस्थान का काल –

यह मात्र उपशम श्रेणी का गुणस्थान है । इसका उत्कृष्ट काल यथायोग्य अंतर्मुहूर्त है । जघन्य काल मरण की अपेक्षा 1 समय है । मध्यम काल के सर्व भेद भी मरण की अपेक्षा हैं ।

12 वें क्षीणमोह गुणस्थान का काल –

यथायोग्य एक अंतर्मुहूर्त है । क्षपक श्रेणी में मरण नहीं होता इसलिए यहाँ काल के भेद भी नहीं हैं ।

13 वें सयोगकेवली गुणस्थान का काल –

13 वां गुणस्थान प्राप्त होने पर शेष जितनी आयु बाकी रही हो उतने काल में से 14 वें गुणस्थान का काल घटा देने पर जो काल रहेगा उतना 13 वें गुणस्थान का काल है। यहाँ जघन्य काल एक अंतर्मुहूर्त है। उत्कृष्ट काल किसके होता है देखते हैं। कर्मभूमि के मनुष्य को ही मुनिपद, श्रेणी के गुणस्थान एवं सिध्दपद प्राप्त हो सकता है। यहाँ के जीवों की उत्कृष्ट आयु 1 करोड पूर्व वर्ष की होती है (84 लाख वर्ष × 84 लाख वर्ष =1 पूर्व। 1 करोड × 1 पूर्व = 1 पूर्व कोटी या 1 करोड पूर्व)।

13 वें का उत्कृष्ट काल - 1 करोड पूर्व में से गर्भकालसहित 8 वर्ष और 8 अंतर्मुहूर्त बाद करके बचा हुआ शेष काल। उसका कारण है कि मुनिदीक्षा धारण करने के लिए कम से कम उमर गर्भसहित 8 वर्ष की आवश्यक है। उसके पश्चात् 8 अंतर्मुहूर्तों में जीव मोक्ष जाने का पुरुषार्थ कर सकता है।

14 वें अयोगकेवली गुणस्थान का काल –

एक अंतर्मुहूर्त जो पांच ह्रस्व स्वरों - अ, इ, उ, ऋ, लृ के उच्चारण काल जितना होता है, कम या अधिक नहीं होता।

अभी हमने एक जीव की अपेक्षा से काल के भेद देखे। नाना जीवों की अपेक्षा से कई गुणस्थान निरंतर यानि सदाकाल विद्यमान रहते हैं अर्थात् उस विवक्षित गुणस्थान में कोई भी जीव न हो ऐसा एक समय भी नहीं हो सकता। वे गुणस्थान हैं - 1 ला, 4 था, 5 वां, 6 ठवां, 7 वां और 13 वां।

जिस प्रकार 1 ले मिथ्यात्व गुणस्थान में जीव अनंत काल तक रहेंगे ही उसीप्रकार 4 था, 5 वां, 6 ठवां, 7 वां मोक्षमार्ग के गुणस्थान तथा 13 वां अरहंत अवस्था का गुणस्थान इन गुणस्थानों का एक समय मात्र भी लोप नहीं होता। सर्वज्ञ का कभी अभाव नहीं होता। मोक्षमार्ग का उपदेश कभी बंद नहीं होता। धर्म प्रकट करनेवाले जीवों का कभी लोप नहीं होता। विदेहक्षेत्र में तो वे सदाकाल ही विद्यमान रहते हैं। अन्यत्र जहाँ काल के उत्सर्पिणी,

अवसर्पिणी भेद पडते हैं वहाँ कुछ काल के लिए कुछ क्षेत्रों में इनका लोप हो सकता है। इसमें घबराने की कोई बात नहीं है। मिथ्यात्व में से सम्यक्त्व की प्राप्ति और पश्चात् मोक्षप्राप्ति ऐसा प्रवाह सदाकाल विद्यमान रहता है। यह एकतर्फी मार्ग यानि वन-वे-ट्राफिक होने के कारण मोक्षप्राप्ति के पश्चात् पुनः संसार में और गुणस्थानों में नहीं आना पड़ता।

सभी जीव मोक्ष चले जायेंगे तो इस संसार में कौन रहेगा ? और इसकी क्या दुर्दशा होगी ? ऐसी चिंता करने की कोई आवश्यकता नहीं हैं। संसार रुचिवाले जीव भी कायम रहेंगे। अनंत काल के बाद भी सिध्द जीवों से संसारी जीवों की संख्या अनंत गुणा ही रहेगी।

इसलिए संसार की चिंता छोड़कर, स्वयं का स्वरूप समझकर, स्वरूपस्थिरता द्वारा अर्थात् निज आत्मा में एकाग्रता करके हम गुणस्थान आरोहण करके अल्प भवों में ही गुणस्थानातीत हो जायेंगे इस भावना के साथ,

– तुम्हारी माँ

****

जीवसमास

पत्रांक 14 ॥ ॐ नमः सिध्देभ्यः ॥ 9 सितम्बर 1999

प्रिय रीना एवं मोना,

अनेक उत्तम शुभाशीर्वाद ।

हमने सभी संसारी जीवों को गुणस्थानों में विभाजन करके उन गुणस्थानों का स्वरूप देखा। गुणस्थान की `संक्षेप' और `ओघ' संज्ञा है । उसी तरह `सामान्य' संज्ञा भी गुणस्थान की है । चूँकि गुणस्थान को संक्षेप और सामान्य कहते हैं इसलिए विस्तार और विशेष नाम से पहचाने जानेवाला जीवों का कोई विभाजन होना चाहिए । उसे `मार्गणा' कहते हैं । मार्गणा के अन्य नाम `विस्तार', `आदेश' और `विशेष' हैं ।

आचार्यों ने जीव का वर्णन अनेक प्रकार से किया हुआ है । उसे प्ररूपणा कहते हैं । कुल बीस प्ररूपणा हैं और उनके स्थूलरूप से दो भेद हैं - गुणस्थान और मार्गणास्थान ।

वास्तविक देखा जाये तो मार्गणा चौदह हैं परंतु उनमें जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा और उपयोग ये पांच प्ररूपणायें मिलाकर इन सबको मार्गणास्थान कहने की पध्दति है ।

इन बीस प्ररूपणासंबंधी हम स्थूल चर्चा करेंगे । उनके संबंध में ज्ञान होने पर जीवसंबंधी हमारी अनेक भ्रांत कल्पनायें दूर होती हैं । इसके अधिक विस्तार में न जाकर आवश्यक उतनी साधारण जानकारी हम लेंगे। यदि विशेष जानने की रुचि उत्पन्न हो तो बहुत अच्छी बात है । शास्त्रभंडार उपलब्ध है ही ।

हमने अब सुबह में कर्मकाण्ड का अभ्यास प्रारंभ किया है । पुस्तक के प्रारंभ में पीठिका लिखी हुअी है और जीवकाण्ड के विषय वस्तु की सूचनिका भी उसमें है । उस दिन की मेरी कॅसेट सुनकर रीना तुझे जीवकाण्ड पढ़ने की इच्छा हुअी ऐसा तूने बताया था । जीवकाण्ड में इन्हीं बीस प्ररूपणा की चर्चा विस्तार के साथ है ।

बीस प्ररूपणा में से पहली प्ररूपणा गुणस्थान है । उसके संबंध में हमने जानकारी हासिल की है । आज जीवसमास नाम की दूसरी प्ररूपणासंबंधी चर्चा करेंगे ।

हमारा हर एक का आज अस्तित्व है। प्रत्येक जीव को 'मैं हूँ' इसतरह अपने अस्तित्व का ज्ञान एवं विश्वास होता है, यह बात उसे सिखानी नहीं पड़ती। जिसका अस्तित्व है ऐसा पदार्थ - ऐसा द्रव्य त्रिकाल अस्तित्ववान होता है। उसका अस्तित्व कभी नष्ट नहीं होता। अस्तित्वगुण की चर्चा में हमने इसे विस्तार के साथ समझा ही था।

मैं आज हूँ, कल भी थी। वर्तमान में मैं मनुष्यपर्याय में हूँ, उसके पूर्व अन्य पर्याय में थी। इसतरह अनादि काल से हमारे प्रत्येक का अस्तित्व कायम है। अनंतानंत भवों में घूमते घूमते आज हम यहाँ आये हैं।

हे जीव ! क्या इस भव भव में भटकने से, इस भ्रमण से तू अभी तक व्यथित नहीं हुआ ? अनादिकाल से मोह निद्रा में तू निद्रिस्त है, सोया हुआ है। जाग भैया जाग, अब तो तेरे जागने का समय आया है। आज तक तू कहाँ कहाँ जन्म-मरण करके आया है सुन तो सही।

हे जीव ! जब तक प्राप्त शरीर से भिन्न स्वयं का स्वरूप तू नहीं पहचानेगा, स्वयं का विश्वास, स्वयं का ज्ञान, स्व में एकाग्रता नहीं करेगा तब तक तुझे अन्य अन्य शरीरों का संयोग होता रहेगा। तेरे शुभाशुभ भावों के फलस्वरूप तू चार गतियों में भटकता रहेगा।

जीव अनंत हैं। उनमें से बहुत ही अल्प सजीवों को - जीव की पर्यायों को हम जानते हैं। केवलज्ञानी के अलावा अन्य कोई भी इन सभी जीवों का या उनकी पर्यायों का स्पष्ट ज्ञान कर नहीं सकते। सर्वज्ञ भगवंतों ने स्वयं प्रत्यक्ष जानकर जीवों की अनेकविध योनि और जाति का वर्णन किया है। समस्त संसारी जीवों का किसी विवक्षित समान धर्म की अपेक्षा हम वर्गीकरण कर सकते हैं - विभाजन कर सकते हैं - ग्रुप्स बना सकते हैं।

जैसे, उपयोग अर्थात् चेतना लक्षण द्वारा देखने पर सभी जीव उसमें अंतर्भूत हो जायेंगे क्योंकि यह लक्षण प्रत्येक जीव में पाया जाता है। त्रस और स्थावर की अपेक्षा दो भेद यानि दो स्थान होंगे। द्वींद्रिय से पंचेंद्रिय तक के जीवों को त्रस कहते हैं। पृथ्वीकायिकादि पांच प्रकार के एकेंद्रियों को स्थावर कहते हैं। इन्हीं के एकेंद्रिय, विकलेंद्रिय, सकलेंद्रिय भेद करने पर जीवसमास के तीन स्थान होंगे। विकलेंद्रिय में द्वींद्रिय, त्रींद्रिय, चतुरिंद्रिय जीव गर्भित हैं, उन्हें विकलत्रय भी कहते हैं।

अभी हमने तीन स्थान देखे। शास्त्र में विभिन्न अपेक्षाओं से भेद करते करते क्रमशः एक एक स्थान बढ़ते बढ़ते उन्नीस स्थान बतायें हैं। उनके भी प्रभेद बतायें हैं।

जिसतरह ये स्थानों के भेद हैं उसी प्रकार योनि के भेद, देह के अवगाहना के भेद, कुल के भेद इनकी अपेक्षाओं से जीवसमास का वर्णन किया हुआ है। इन सब के विस्तार में न जाकर सामान्यतः चौदह जीवसमास बताये हैं उनका स्वरूप आज हम देखेंगे ।

जीव के संयोग में जो देह है और उसके ज्ञान का जो उघाड (क्षयोपशम) है उसकी अपेक्षा से अर्थात् इंद्रियों की अपेक्षा से जीवों के भेद किये हैं। यहाँ द्रव्येंद्रिय और भावेंद्रिय (ज्ञान का उघाड) दोनों गर्भित हैं । एकेंद्रिय से पंचेंद्रिय तक जीव पाये जाते हैं। उनमें से एकेंद्रिय में सूक्ष्म और बादर दो भेद हैं और पंचेंद्रिय में संज्ञी यानि मनसहित और असंज्ञी यानि मनरहित दो भेद हैं। इसतरह इन सब की संख्या सात हुअी और इनके प्रत्येक के पर्याप्त-अपर्याप्त दो दो भेद करने पर उनकी कुल संख्या चौदह हुअी ।

1. एकेंद्रिय - सूक्ष्म
2. एकेंद्रिय - बादर
3. द्वींद्रिय
4. त्रींद्रिय
5. चतुरिंद्रिय
6. पंचेंद्रिय असंज्ञी
7. पंचेंद्रिय संज्ञी

→ पर्याप्त
→ अपर्याप्त

एकेंद्रिय जीवों को एक ही स्पर्शन इंद्रिय है, इनके पांच प्रकार हैं - पृथ्वीकायिक, जलकायिक, वायुकायिक, अग्निकायिक और वनस्पतिकायिक। काया अर्थात् शरीर। पृथ्वी जिनका शरीर है उन्हें पृथ्वीकायिक जीव कहते हैं। जल जिनका शरीर है उन्हें जलकायिक जीव कहते हैं। इसीतरह अन्य तीनों में समझना ।

तुम सोचोगी कि एक बड़ा जलाशय एक जलकायिक जीव होगा, एक विशाल पर्वत एक पृथ्वीकायिक जीव होगा, प्रचंड आग एक अग्निकायिक जीव होगा और एक बड़ा वृक्ष एक ही वनस्पतिकायिक जीव होगा; परंतु ऐसा है नहीं। इन सब एकेंद्रिय जीवों की अवगाहना यानि साईझ बहुत छोटी है। अंगुल के असंख्यातवें भाग जितनी इनकी अवगाहना है। उंगली-तर्जनी की चौड़ाई को `अंगुल' कहते हैं ।

जल की एक बूंद में असंख्यात जलकायिक जीव होते हैं। जल में जो अन्य त्रस जीव पाये जाते हैं उनकी चर्चा नहीं हो रही है। जो अग्नि हमें दिखायी दे रहा है उसमें असंख्यात अग्निकायिक जीव हैं। थोड़ीसी मिट्टी में असंख्यात पृथ्वीकायिक जीव रहते हैं। केवल मिट्टी ही नहीं, पत्थर, रेत, रत्न, माणिक, हिरा, खदान के धातु आदि सब पृथ्वीकायिकादि के भेद हैं।

जिन हिरे-माणिकों और सोने का हमें इतना आकर्षण हैं, क्या उनके स्वरूप का कभी विचार भी किया है ? खदान में कोयला हो या हिरा-माणिक हो सभी एकेंद्रिय जीव हैं। खदान में से बाहर निकालने पर उसमें से जीव निकल जाता है तब रहता है उन जीवों का कलेवर। हम पंचेंद्रिय जीव बुध्दि में अपने आप को महान मानते हैं परंतु अपने संयोग के इस देह पर-इस कलेवर पर एकेंद्रियों के कलेवर धारण करते हैं और बड़े गर्व से उसका प्रदर्शन करते रहते हैं। अन्य भोले अज्ञानी जीव भी उनकी ओर देखकर ईर्षा करते हैं। अपनी बुध्दि का दिवाला निकला हुआ है इसमें कोई संदेह नहीं।

इन पांचों ही प्रकार के एकेंद्रियों को स्थावरकाय या स्थावर जीव कहते हैं। उनके स्थावर नाम के नामकर्म का उदय है। इन सब के सूक्ष्म और बादर दो दो भेद हैं। उनमें से पहले सूक्ष्म जीवों का स्वरूप वर्णन करेंगे। सूक्ष्म और बादर नामकर्म की प्रकृति हैं। सूक्ष्म नामकर्म के उदय से जो जीव उत्पन्न होते हैं उन्हें सूक्ष्म जीव कहते हैं। सूक्ष्म जीव वज्र, अग्नि, जल, पर्वत, मेरु आदि से रोके नहीं जा सकते, अग्नि आदि से मारे नहीं जा सकते - उनका कदलीघात से मरण नहीं होता। अपनी आयु पूर्ण करके आयु के अंत में ही वे मरते हैं। वे जीव अन्य जीवों को मारते नहीं और अन्य जीव उन जीवों को मार नहीं सकते - उनकी हिंसा कर नहीं सकते। वे किसी के आधार के बिना रहते हैं और अन्य जीवों को आधार भी नहीं देते।

इसका अर्थ है कि सूक्ष्म जीव मारने से नहीं मरते, काटने से नहीं कटते, अग्नि द्वारा जलते नहीं, हवा से उड़ते नहीं। सभी पर्वत, भींत, शरीरादि में से आरपार गमन करते हैं। सूक्ष्म जीव लोकाकाश में सर्वत्र (वातवलयोंसहित सर्वत्र) ठसाठस भरे हुअे हैं। लोकाकाश का ऐसा कोई भी क्षेत्र नहीं है कि जहाँ सूक्ष्म निगोदिया (निगोद) जीव, सूक्ष्म अग्निकायिक, सूक्ष्म पृथ्वीकायिक, सूक्ष्म जलकायिक, सूक्ष्म वायुकायिक जीव ठसाठस भरें न हो।

अब बादर जीवों की विशेषता देखते हैं। बादर नामकर्म के उदय से जीव बादर होते हैं। जिनका शरीर प्रतिघातयुक्त है उन्हें बादर जीव कहते हैं और जिनका शरीर अन्य पुद्गलों द्वारा प्रतिघातरहित यानि अटकावरहित है उन्हें सूक्ष्म जीव कहते हैं। बादर जीव लोकाकाश में सर्वत्र नहीं पाये जाते। आठ पृथ्वियां और अन्य जीवों के आश्रय से बादर जीव रहते हैं। आकार से छोटा होना सूक्ष्म का अर्थ नहीं है। सूक्ष्म जीवों का शरीर सूक्ष्म है अर्थात् वह शरीर किसी अन्य को रोकता नहीं और अन्य भी कोई उसे रोक नहीं सकता। भींत में से, लोहे के गोले में से वे आरपार जा सकते हैं। जैसे कांच में से प्रकाश के किरण आरपार जाते हैं। यह तो दृष्टांत है और इसमें प्रकाश और कांच दोनों स्थूल स्कंध हैं। सूक्ष्म भेद मात्र एकेंद्रियों में पाया जाता है। द्वींद्रियादि सभी जीव बादर ही हैं।

बादर पृथ्वीकायिक, बादर जलकायिक आदि जीव पृथ्वी आदि के आधार से रहते हैं परंतु पांच ही प्रकार के सूक्ष्म जीव सम्पूर्ण लोकाकाश में रहते हैं। हम सोचते हैं कि घर में हम 4-5 लोग ही रहते हैं परंतु वहाँ भी सर्वत्र पांच प्रकार के सूक्ष्म एकेंद्रिय जीव तो हैं ही। आज कल के तुम लोगों को यह बात आसानी से समझ में आ सकती है। तुम्हारे बच्चों को बुखार आया हो और रोग का निदान न होता हो तो डॉक्टर बताते होंगे कि यह तो व्हायरल फिवर है, व्हायरस नाम के कीटाणुओं से हुआ है। हम भी उस पर भरोसा करते हैं, विश्वास रखते हैं।

आज कल हमें सर्वज्ञ से बढ़कर डॉक्टर पर विश्वास है। डॉक्टर ने बताया हुआ परहेज़ और दवाईयां बड़ी सावधानीपूर्वक लेते हैं, इसका कारण है देह में अपनी एकत्वबुध्दि ! देह को 'मैं' मानने पर देह के लिए जो जो बातें अनिष्टकारक होती हैं उन्हें हम टालते हैं। परंतु मैं जीव हूँ समझने के बाद मुझे कौनसी बातें अनिष्टकारक हैं इसके बारे में हम सोचते हैं या नहीं जरा अपने मन से पूछो तो सही।

सर्वज्ञ भगवंत ने प्रत्यक्ष जानकर बताया है कि कंदमूलादि वनस्पति में निगोद जीव रहते हैं। आलू, प्याज, लहसुन आदि में अनंत जीव रहते हैं और इनके भक्षण में अनंत जीवों की हिंसा होती है। परंतु इस बात को सुनकर अनेक लोग कहते हैं, 'किसने देखा है ?'। अब चर्चा चल ही पड़ी है तो 'निगोद' क्या है इस प्रश्न का उत्तर देखेंगे।

देहधारी जीवों में प्रत्येक शरीर और साधारण शरीर इसतरह दो भेद हैं। एक शरीर में एक जीव रहता हैं और उस शरीर का उपभोग लेता है उसे `प्रत्येक जीव' या `प्रत्येक शरीर जीव' कहते हैं। जहाँ एक शरीर में अनंत जीव रहते हैं, वहाँ उन जीवों को `साधारण शरीर' या `साधारण शरीर जीव' कहते हैं। एक ही शरीर अनंत जीवों में साधारण अर्थात् समान यानि कॉमन रहता है। इस शरीर को निगोद शरीर कहते हैं। और उसमें रहनेवाले जीवों को `निगोद' या `निगोदिया' जीव कहते हैं।

इन जीवों का शरीर ही समान है ऐसी बात नहीं है। अपितु इनका जन्म एक समय में, मरण एक समय में, आयु समान और श्वासोच्छ्वास समान होता है। इनके पर्याप्ति समान होती हैं। विवक्षित एक समय में एक साथ जन्मनेवाले जीव विवक्षित एक समय में एक साथ मरते हैं परंतु हर समय अन्य अन्य अनंत जीव निरंतर उत्पन्न होते ही रहते हैं, मरण भी होता रहता है। इतना होते हुअे भी निगोद शरीर टिका रहता है। असंख्यात सागर वर्षों तक टिकनेवाले निगोद शरीर भी हैं।

एक निगोद शरीर में अनंत जीव रहते हैं इसलिए यह शरीर बड़ा होगा ऐसा मत सोचना। इसका आकार बहुत ही छोटा होता है। सुनने की तैयारी है ? ये सारी बातें केवलज्ञानगम्य हैं, त्रिवार सत्य हैं। इन बातों का अविश्वास सर्वज्ञ भगवान का अविश्वास है। अरहंत, सिध्द सर्वज्ञ हैं। जिनका इनके कथन पर विश्वास नहीं है उनका णमो अरहंताणं, णमो सिध्दाणं कहना ढोंग है।

हां, तो सुनो ! एक सुई के नोंक पर आलू या अन्य कंदमूल का जितना टुकड़ा रहेगा उसमें असंख्यात **स्कंध** होते हैं, एक एक स्कंध में असंख्यात **अंडर** होते हैं, एक एक अंडर में असंख्यात **आवास** होते हैं, एक एक आवास में असंख्यात **'पुलवि'** होती हैं, एक एक पुलवि में असंख्यात **देह** यानि औदारिक शरीर - निगोद शरीर होते हैं। इतने पर ही मत रुकना, एक एक निगोद शरीर में अनंत जीव रहते हैं। कितने अनंत हैं, पता है?

हर छह महिने और आठ समयों में 608 जीव मोक्ष जाते हैं - सिध्द बनते हैं। इस हिसाब से अनादि काल से अनंत काल तक अनंत जीव सिध्द बनते हैं। इसे `सिध्दराशी' कहते हैं। सिध्दराशी के अनंतानंत गुणा जीव एक निगोद शरीर में रहते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि एक निगोद शरीर

में जितने जीव रहते हैं उसके अनंतवें भाग के अनंतवें भाग जितने जीव भी तीन काल में सिध्द नहीं बनेंगे ।

इनमें से सूक्ष्म निगोद तो संपूर्ण लोकाकाश में ठसाठस भर हुअे हैं । बादर निगोद भी अन्य किसी आधार से रहते हैं । वे कहाँ रहते हैं उसे देखते हैं । बादर निगोद जीव जिस प्रत्येक शरीर के आधार से रहते हैं उस प्रत्येक शरीर को `प्रतिष्ठित प्रत्येक' कहते हैं । जब निगोद जीव उसमें नहीं पाये जाते तब उसे `अप्रतिष्ठित प्रत्येक' कहते हैं ।

मुझे पता है कि ऊपर की बातें पढ़कर तुम्हारे मन में अनेक सवाल उठेंगे कि निगोद कितने इंद्रियवाले जीव हैं ? यदि एकेंद्रिय हो तो क्या सभी एकेंद्रियों में वे पाये जाते हैं ? क्या हमारे शरीर के आधार से भी वे रहते हैं ? यदि हाँ, तो ऐसे कौनसे जीव हैं कि उनके शरीर में निगोद जीव नहीं पाये जाते ? इन सभी सवालों के ज़वाब देखते हैं ।

निगोद यानि साधारण जीव वनस्पतिकायिक जीव हैं । प्रत्येक और साधारण दो भेद मात्र वनस्पतिकायिक जीवों में ही पाये जाते हैं । वनस्पतिकायिक को छोड़कर अन्य एकेंद्रिय अर्थात् पृथ्वीकायिक, जलकायिक, वायुकायिक और अग्निकायिक जीव प्रत्येक शरीरवाले जीव हैं । उसीप्रकार द्वींद्रियादि पंचेंद्रियपर्यंत सभी जीव प्रत्येक शरीरवाले ही हैं ।

सभी प्रत्येक शरीर के आधार से साधारण शरीर नहीं रहते । जिनके आधार से नहीं रहते उन प्रत्येक शरीर को `अप्रतिष्ठित प्रत्येक' कहते हैं । पृथ्वी आदि चार प्रकार के जीवों के अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु के शरीर, केवली का शरीर, आहारक शरीर, देवों के शरीर, नारकीयों के शरीर ये सभी शरीर निगोदरहित हैं । इनके अलावा बाकी सभी जीवों के शरीर बादर निगोद जीवों से युक्त यानि प्रतिष्ठित हैं । वे इसप्रकार हैं - सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति, द्वींद्रिय, त्रींद्रिय, चतुरिंद्रिय, पंचेंद्रिय तिर्यंचों और ऊपर बताये हुअे जीवों को छोड़कर अन्य सभी मनुष्यों के शरीर में निगोद रहते हैं ।

द्वींद्रियादिकों के शरीर की मांस संज्ञा है और इसमें निरंतर अनंत जीवों का जन्ममरण होता रहता है । इसीलिए मांसभक्षण में अनंत जीवों की हत्या होती है । परिणामों में क्रूरता एवं खाने की तीव्र लालसा बिना कोई मांसाहार नहीं करता । वनस्पति खाने में मांसाहार का दोष नहीं लगता फिर भी जहाँ

अनंत जीव रहते हैं ऐसे वनस्पति को अनंतकाय कहते हैं और उनके भक्षण से अनंत जीवों की हिंसा होती है ।

बेटीयों, हम सब ने अनादि से अधिकतर काल इस निगोद पर्याय में ही बिताया है । सूक्ष्म या बादर निगोद में ही निरंतर जन्ममरण करते करते असंख्यात उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी अर्थात् असंख्यात कल्पकाल हमने उसमें बिताया है । निगोद या अन्य एकेंद्रियों में जन्ममरण करते करते असंख्यात पुद्गल परावर्तन काल बीत गया । यह सब हम भूल गये ।

हे जीव ! अब भी तू नहीं चेतेगा, अपना स्वरूप नहीं पहचानेगा तो इन्हीं पर्यायों में तुझे वापस जाना पड़ेगा कि जहाँ अनंतकाल रहकर तू आया है । यह ऐसी अवस्था है कि जहाँ जीव का अस्तित्व मानने को भी कोई तैयार नहीं होता । एकेंद्रिय पर्याय में से निकलकर द्वींद्रियादि पर्यायों में जन्म पाना उत्तरोत्तर दुर्लभ है । मनुष्यपर्याय तो महादुर्लभ है । यहाँ तक आकर तू वापस मत मुड़ना । भौतिक विषयों की चकाचौंध में अपने चैतन्य चित्चमत्कार की ओर से आँखें मत मूंद लेना - दुर्लक्ष्य मत करना ।

द्वींद्रिय से पंचेंद्रिय तक के जीवों को त्रसकायिक या त्रस जीव कहते हैं । द्वींद्रिय जीवों के स्पर्शनेंद्रिय और रसनेंद्रिय दो इंद्रियां पायी जाती हैं । शंख, कौड़ी, लट आदि द्वींद्रिय जीव हैं । त्रींद्रिय जीवों के स्पर्शन, रसना और घ्राण तीन इंद्रियां होती हैं । चींटी, कीड़े आदि त्रींद्रिय जीव हैं । चतुरिंद्रिय जीवों के स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु चार इंद्रियां होती हैं । पतंग, मक्खी, भंवरा आदि चतुरिंद्रिय जीव हैं । देव, नारकी, मनुष्य और पंचेंद्रिय तिर्यंच पंचेंद्रिय जीव हैं । इनके स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण पांच इंद्रियां होती हैं ।

पंचेंद्रिय जीवों में संज्ञी अर्थात् मनसहित और असंज्ञी अर्थात् मनरहित दो भेद पाये जाते हैं । इसतरह के दो भेद मात्र पंचेंद्रिय तिर्यंचों में ही पाये जाते हैं । देव, नारकी और मनुष्य संज्ञी पंचेंद्रिय जीव ही हैं ।

संज्ञी जीव उनका नाम लेकर पुकारने से समझ जाते हैं, उपदेश ग्रहण करना, स्मरण, विचार आदि कार्य मन द्वारा होता है । सर्कस में हम ट्रेंड किये हुअे प्राणियों को देखते हैं वे सभी संज्ञी पंचेंद्रिय हैं ।

इसतरह इन सातों प्रकार के जीवों के पर्याप्त और अपर्याप्त भेद करके चौदह जीवसमास होते हैं । पर्याप्तिसंबंधी अधिक जानकारी मैं आगामी लेखों में लिखूंगी ।

शास्त्राभ्यास की प्रेरणा देते हुअे पं. टोडरमलजी सम्यग्ज्ञानचंद्रिका की पीठिका में लिखते हैं -

``एकेंद्रियों से असंज्ञी पंचेंद्रियों तक मन ही नहीं, नारकी वेदनापीड़ित, देव विषयासक्त, मनुष्यों में भी अनेक कारण मिलने पर शास्त्राभ्यास होता है। मनुष्यपर्याय प्राप्त होना ही द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से महादुर्लभ है।

द्रव्य अपेक्षा मनुष्य जीव सब से थोड़े - अल्प अर्थात् संख्यात हैं, अन्य जीव असंख्यात हैं, निगोदादि एकेंद्रिय जीव अनंत हैं।

क्षेत्र अपेक्षा मनुष्यक्षेत्र छोटा है - अढाई द्वीप प्रमाण है। एकेंद्रियों का क्षेत्र- रहने का स्थान संपूर्ण लोकाकाश जितना है, देव और नारकी कित्येक राजू प्रमाण क्षेत्र में रहते हैं।

काल अपेक्षा मनुष्यपर्याय में रहने का काल (लगातार मनुष्य भव मिलते रहे तो जितना काल होगा) अल्प है। कर्मभूमि की अपेक्षा कुछ करोड़ पूर्व हैं, एकेंद्रिय पर्याय में असंख्यात पुद्गल परावर्तन है, अन्य पर्यायों में कुछ पल्य प्रमाण है।

भाव अपेक्षा जिन परिणामों से मनुष्यपर्याय प्राप्त होती है ऐसे न अति तीव्र और न अति मंद परिणाम होना दुर्लभ है। शास्त्राभ्यास को कारणभूत कर्मभूमि की पर्याप्त मनुष्यपर्याय प्राप्त होना अतिदुर्लभ है।

उसमें भी उत्तम रहनसहन, उच्चकुल, पूर्ण आयु, इंद्रियों का सामर्थ्य, निरोगी शरीर, सुसंगति, धर्मरूप अभिप्राय और बुध्दि की प्रबलता उत्तरोत्तर महादुर्लभ है।''

बेटीयों, इन सब उत्तरोत्तर महादुर्लभ बातों की हमें प्राप्ति हो चुकी है, इनके लिए कुछ करने की जरूरत तो है नहीं। इस मनुष्यभव की दुर्लभता ध्यान में आने पर उसकी सार्थकता करना अपने हाथ में है। हम योग्य मार्ग पर हैं ही, उस पर अग्रेसर होने का हम अधिक पुरुषार्थ करेंगे।

– तुम्हारी माँ

****

पर्याप्ति प्ररूपणा

पत्रांक 15 ॥ ॐ नमः सिध्देभ्यः ॥ 11 सितम्बर 1999

प्रिय रीना एवं मोना,

अनेक उत्तम शुभाशीर्वाद ।

जीवसमास का वर्णन और भेद प्रभेद पढ़कर जीवों की अनंत संख्या और केवलज्ञान की अनंत शक्ति का तुम्हें थोड़ा तो अंदाजा आया होगा। तुम पूछोगी कि, `जीवसमास जानने से हमें क्या लाभ होगा ?' तो सुनो !

अनंत जीव किस किस पर्यायों में रहते हैं इस बात का हमें पता चलता है। हम भी आज तक कहाँ कहाँ जन्म मरण करते करते इस मनुष्यपर्याय में आये हैं इसका ज्ञान होता है। निरंतर चलनेवाले इस जन्ममरण के भवचक्र का भय लगने लगता है और इसमें से छूटने का मार्ग क्या है इसके बारे में विचार करने के लिए हम प्रवृत्त हो जाते हैं। संसार के इस भय को `संवेग' कहा है ।

हमारे प्राप्त मनुष्यपर्याय की दुर्लभता ध्यान में आने पर हम अपना समय बिना वज़ह गमा रहे हैं इस बात का एहसास होता है और शीघ्रातिशीघ्र स्वयं को पहचानने का कार्य प्रारंभ किया जाता है ।

हमारे समान चैतन्य गुणधारी अन्य अनंत जीव कहाँ कहाँ जीवन बिता रहे हैं इस बात का ज्ञान होने से अपने कारण जीवों को चोंट तो नहीं आयेगी? पीड़ा यानि दुःख तो नहीं पहुंचेगा ? मरण तो नहीं प्राप्त होगा ? इन बातों का हम ख्याल रख सकते हैं। सहज ही ऐसे कोमल परिणाम होते हैं। जब हमें पता चलता है कि हम इन सारे पर्यायों में भ्रमण करके आज यहाँ आये हैं और हमारे अनंत भवों के माता, पिता, पुत्र, परिवार में से कोई ना कोई सर्वत्र विद्यमान हैं तब प्रमाद के कारण - असावधानी के कारण होनेवाली हिंसा हम टाल सकते हैं। उस संबंध में हम जागरुक रह सकते हैं ।

मिथ्यात्व अवस्था में स्वच्छंदता के कारण जो हिंसा होती है उससे जीव विरत नहीं होता। 4 थे गुणस्थान में वह अविरत होने पर भी उस जीव को उसके कारण होनेवाली हिंसा के बारे में खेद वर्तता है। 5 वें गुणस्थानवाला जीव त्रसहिंसा का त्यागी होता है परंतु स्थावर जीवों की हिंसा से वह निवृत्त नहीं हो सकता - स्थावर हिंसा का त्याग उसके नहीं होता। मुनि को तो सर्व

त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा का त्याग वर्तता है। मन, वचन, काय तथा कृत, कारित, अनुमोदना से भी वे हिंसा या हिंसा का भाव नहीं करते।

यदि हमें जीव किस किस पर्यायों में कहाँ कहाँ रहते हैं इसकी जानकारी नहीं होगी तो हम उनकी होनेवाली हिंसा से परावृत्त कैसे हो सकते हैं ? पृथ्वी, अग्नि, वायु, जल और वनस्पति जीव हैं इस बात का बहुत ही थोड़े लोगों को ज्ञान है और बताने पर भी थोड़े लोग ही उस पर विश्वास करते हैं। वृक्ष, बेल, घास आदि में जीव हैं यह बात समझ में आती है परंतु वृक्ष की टूटी हुअी शाखाओं, पत्तों, फूलों और फलों में भी अनेक वनस्पतिकायिक जीव रहते हैं और उसके कारण ये सब सचित्त हैं इस बात का हमें पता नहीं चलता। अत्यंत छोटे छोटे फल, फूल, पत्ते सप्रतिष्ठित होते हैं और जब पत्तों में नसे दिखती हैं, फल या फूल तोड़ने पर समभंग नहीं होता, समान टुकड़े न होकर आड़े टेढ़े टूट जाते हैं उसमें तंतू लगे रह जाते हैं तब समझना कि अब ये अप्रतिष्ठित प्रत्येक हो गये हैं अर्थात् अब उनमें निगोद जीव नहीं पाये जाते। जीवसमास का अभ्यास होने से हमारा खानपानसंबंधी विवेक जाग्रत होता है।

चरणानुयोग में आचरण की मुख्यता से उपदेश दिया जाता है। उसमें खानपानसंबंधी नियम बताये जाते हैं पदार्थों की मर्यादायें बतायी जाती हैं। विशिष्ट मर्यादा तक पदार्थ भक्षण करने योग्य होते हैं। उसके बाद उन पदार्थों में जीवों की उत्पत्ति होती है। यह उत्पत्ति अपनेआप होती है। दवाईयों पर भी मुदत पूरी होने की तारीख Expiry Date लिखी रहती है। उसके पश्चात् हम उन औषधियों का सेवन नहीं करते। अन्न, दूध आदि खाद्यपदार्थों के बारे में भी मर्यादा का पालन करना अत्यावश्यक है।

निर्जंतुक पदार्थ हवाबंद-पॅकबंद करने पर भी कुछ काल पश्चात् उसमें जीवों की उत्पत्ति होती है क्योंकि वहाँ सम्मूर्च्छन जीवों की उत्पत्ति होती है। सम्मूर्च्छन प्रकार से जन्म लेनेवाले जीव `सं' यानि समंतात् - आसमंत से अर्थात् आसपास के पुद्गल में से कुछ पुद्गलों का ग्रहण करके अपने शरीररूप से धारण करते हैं। इन जीवों को जन्म देने के लिए माता पिता की जरूरत नहीं होती। एकेंद्रियों से चतुरिंद्रिय तक के सभी जीव सम्मूर्च्छन जीव ही होते हैं। पंचेंद्रियों में मनुष्य और तिर्यंचों में गर्भज और सम्मूर्च्छन दो दो प्रकार पाये जाते हैं।

हमें जो मनुष्य दिखतें हैं वे सब तो गर्भज हैं। सम्मूर्च्छन मनुष्य कर्मभूमि के आर्यखंड की महिलाओं के काख आदि भागों में उत्पन्न होते हैं। वे लब्धि अपर्याप्तक होने से अति अल्प काल में मरण को प्राप्त होते हैं। एक श्वास के अठारहवें भाग में मरते हैं। एक श्वास का अर्थ है निरोगी युवा मनुष्य के दो नाड़ी (Pulse) के बीच का अंतराल। एक मिनट में 78 श्वास होते हैं यानि साधारणतः पौने सेकण्ड ($\frac{3}{4}$ सेकण्ड) के 18 वें भाग में $\frac{3}{4} \times \frac{1}{18} = \frac{1}{24}$ सेकण्ड में इन सम्मूर्च्छन मनुष्यों का एक मनुष्य भव समाप्त होता है। तुम्हें समझाने के लिए यहाँ सेकण्डों में स्थूल कथन किया हुआ है।

सभी अपर्याप्त जीवों की आयु इतनी अल्प होती है। इसे `क्षुद्रभव' भी कहते हैं। किसी जीव को लगातार-निरंतर क्षुद्रभव प्राप्त होते रहे तो एक अंतर्मुहूर्त में (अंतर्मुहूर्त = 48 मिनटों में 1 समय कम) 66336 भव होते हैं। इनमें एकेंद्रियों के 66132, द्वींद्रियों के 80, त्रींद्रियों के 60, चतुरिंद्रियों के 40 और पंचेंद्रियों के 24 भव हो सकते हैं। पंचेंद्रियों के 24 भवों में असंज्ञी पंचेंद्रिय तिर्यंचों के 8, संज्ञी पंचेंद्रिय तिर्यंचों के 8 और सम्मूर्च्छन मनुष्यों के 8 भव होते हैं।

करणानुयोग के इस विस्तृत एवं सूक्ष्म वर्णन से हम दंग रह जाते हैं। यह सम्पूर्ण विषय केवलज्ञानगम्य है और केवली भगवान के उपदेश द्वारा ही हमें ज्ञात हुआ है।

अब पर्याप्त और अपर्याप्त जीवों का स्वरूप समझने के लिए पर्याप्तिसंबंधी जानकारी हम प्राप्त करेंगे।

पर्याप्ति का अर्थ होता है कार्यरूप शक्ति। जो जीव इन पर्याप्ति के शक्ति से पूर्ण होता है उसे पूर्ण या `पर्याप्त' कहते हैं। जो जीव इन शक्तियों से अपूर्ण रहता है अर्थात् जिन जीवों की पर्याप्ति नामक शक्तियों की पूर्णता नहीं होती उसे अपूर्ण या `अपर्याप्त' कहते हैं। इनमें पर्याप्त या अपर्याप्त नामकर्म का उदय निमित्त होता है।

सब मिलाकर कुल छह पर्याप्ति हैं उनके नाम इसप्रकार हैं –

(1) आहारपर्याप्ति (2) शरीरपर्याप्ति (3) इंद्रियपर्याप्ति (4) श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति (5) भाषापर्याप्ति (6) मनपर्याप्ति।

इन छह पर्याप्ति में से एकेंद्रिय जीवों को पहली चार पर्याप्ति होती हैं। उनके भाषापर्याप्ति और मनपर्याप्ति नहीं होती। द्वींद्रिय, त्रींद्रिय, चतुरिंद्रिय और असंज्ञी पंचेंद्रियों में पांच पर्याप्ति होती हैं, उनके मनपर्याप्ति नहीं होती। संज्ञी पंचेंद्रियों में छहों पर्याप्ति पायी जाती हैं।

इन पर्याप्ति के छह भिन्न भिन्न नाम हैं इसलिए जाहिर है कि उनके कार्य भी भिन्न भिन्न होंगे। उनका स्वरूप हम क्रमशः देखते हैं।

तुम जानती ही हो कि जीव कहीं से मरकर अन्यत्र उत्पन्न होता है अर्थात् एक शरीर छोड़कर अन्यत्र गमन करता है और वहाँ नये पुद्गल स्कंध ग्रहण करता है। जिन्हें हमने पहले नोकर्मवर्गणा कहा था। शरीर, मन, भाषा, श्वासोच्छ्वास संबंधी परमाणु को जीव ग्रहण करता है। इन परमाणुओं को `खलरूप' और `रसरूप' परिणमाने की आत्मा की शक्ति तैयार होती है, उसे `आहारपर्याप्ति' कहते हैं।

खल और रस भागरूप परिणमित हुए इन पुद्गल स्कंधों में से खलरूप पुद्गलों को हड्डी, चर्म आदि स्थिर अवयवरूप तथा रसरूप पुद्गल स्कंधों को रक्त, वीर्य आदि द्रव अवयवरूप परिणमाने की जो शक्ति, उसे `शरीरपर्याप्ति' कहते हैं।

जीव में ज्ञान का जितना उघाड होगा, जितनी इंद्रियवाला जीव होगा उतनी द्रव्येंद्रियां होती हैं। उन द्रव्येंद्रियों के स्थान पर जो आत्मप्रदेश होते हैं उनके द्वारा उन इंद्रियों के विषयों के ग्रहणरूप यानि जाननेरूप जो उपयोग की शक्ति उत्पन्न होती है उसे `इंद्रियपर्याप्ति' कहते हैं। जैसे, नाक द्रव्येंद्रिय है, वहाँ के आत्मप्रदेशों में सुगंध, दुर्गंध को जानने की उपयोगरूप शक्ति होती है उसे इंद्रियपर्याप्ति कहते हैं। इसीतरह अन्य इंद्रियों के बारे में भी समझना।

आहारवर्गणारूप पुद्गल स्कंधों को श्वासोच्छ्वासरूप परिणमाने की जो शक्ति है, वह `श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति' है।

भाषावर्गणारूप पुद्गल स्कंधों को भाषारूप परिणमाने की जो शक्ति है, वह `भाषापर्याप्ति' है।

मनोवर्गणारूप पुद्गल स्कंधों को द्रव्यमनरूप परिणमाने की शक्ति तथा गुणदोषों का विचार, स्मरण, उपदेश ग्रहण आदिरूप भावमन को परिणमाने की जो शक्ति है, वह `मनपर्याप्ति' है।

इन सभी पर्याप्ति की शरूआत एक ही समय में होती है परंतु पूर्णता क्रम क्रम से होती है। प्रत्येक पर्याप्ति की पूर्णता में अंतर्मुहूर्त काल लगता है और सभी को मिलाकर भी एक अंतर्मुहूर्त काल लगता है। दूसरी शरीरपर्याप्ति पूर्ण होने से पहले उस जीव को `निर्वृत्ति अपर्याप्त' कहते हैं। निर्वृत्ति यानि निष्पत्ति। इसके पश्चात् जीव पर्याप्त कहलाता है। इन जीवों के पर्याप्त नामक नामकर्म का उदय रहता है।

परंतु लब्धिअपर्याप्त जीवों के अपर्याप्त नामकर्म का उदय रहता है। अपर्याप्त जीवों में पर्याप्ति की संख्या पर्याप्त जीवों जितनी होने पर भी उनमें से एक भी पर्याप्ति पूर्ण नहीं होती। अपर्याप्त एकेंद्रिय, विकलेंद्रिय और संज्ञी पंचेंद्रियों को क्रम से चार, पांच और छह पर्याप्ति का प्रारंभ तो होता है परंतु एक भी पर्याप्ति पूर्ण नहीं होती। जीव उसके पूर्व ही श्वास के अठारहवें भाग में मर जाता है।

इसका तात्पर्य है कि पर्याप्त और अपर्याप्त जीवों में पर्याप्ति समान होती हैं परंतु पर्याप्त जीवों में पर्याप्ति पूर्ण होती हैं, जब कि अपर्याप्त जीवों में एक भी पर्याप्ति पूर्ण नहीं होती।

देव, नारकी, भोगभूमिवाले जीव पर्याप्त ही होते हैं। सभी गर्भज जीव (तिर्यंच या मनुष्य) पर्याप्त ही होते हैं। निर्वृत्ति अपर्याप्त जीव भी नियम से पर्याप्त हो जाते हैं। परंतु लब्धि अपर्याप्त जीव एक भी पर्याप्ति पूर्ण किये बिना मर जाते हैं।

सभी पर्याप्ति एक अंतर्मुहूर्त में पूर्ण हो जाती हैं और आयु के अंतिम समय तक ये पर्याप्ति यानि शक्तियां कायम रहती हैं। उनका पुद्गल स्कंधों

को शरीर, मन, भाषा, श्वासोच्छ्वास आदिरूप परिणमाने का कार्य भी जिंदगीभर यानि आयु के अंत तक चलता ही रहता है। बेटीयों, पर्याप्ति का वर्णन पढ़कर, 'मैं जीव बड़ा शक्तिमान हूँ, पुद्गलों को परिणमाने की देखो मेरे में ताकत है', इसतरह की भ्रांति मत करना। प्रत्येक द्रव्य का परिणमन स्वतंत्ररूप से उस द्रव्य की अपनी स्वयं की योग्यता से उसी द्रव्य में होता है। निमित्त-नैमित्तिक संबंध बतानेवाले शास्त्रकथन पढ़कर उन दो द्रव्यों में कर्ता-कर्म संबंध माननेरूप भ्रांति तो अपने में नहीं है ना ? इसकी सावधानी हमें रखनी होगी।

मोक्षमार्गप्रकाशक ग्रंथ में पं. टोडरमलजी कहते हैं, ``अनादिनिधन वस्तुएँ भिन्न भिन्न अपनी अपनी मर्यादासहित परिणमित होती हैं, कोई किसी को परिणमाता नहीं है। दूसरे को परिणमित कराने का भाव निगोद है।''

ऊपर जो शक्ति शब्द कहा था उसका अर्थ स्वभावरूप शक्ति या जीवका गुण या धर्म नहीं है। जीव और कर्म का एकदूसरे से बंध अनादिकाल से ही पाया जाता है और कर्म के उदय में जीव की कैसी अवस्थायें होती हैं, इसका यह वर्णन है। स्वयं को ही शरीररूप बंधन में डालनेवाली शक्ति कैसे हो सकती है?

पर्याप्ति से युक्त होने पर जीव का जो कार्य शुरू होता है उसे 'प्राण' कहते हैं। उसका विवेचन मैं आगामी पत्र द्वारा करूंगी।

– तुम्हारी माँ

****

प्राणप्ररूपणा

पत्रांक 16 ॥ ॐ नमः सिध्देभ्यः ॥ 30 सितम्बर 1999

प्रिय रीना एवं मोना,

अनेक उत्तम शुभाशीर्वाद

पर्यूषण पर्व के निमित्त हम दोनों प्रवचनार्थ सोलापूर गये थे, यह बात तुम्हें विदित ही है। उसके कारण पत्र लिखना नहीं हुआ। सोलापूर में मैंने प्रवचन में करणानुयोग का विषय मोक्षमार्ग प्रकाशक के दूसरे अधिकार के आधार से लिया था।

कर्म का बंध, उदय, सत्ता, कर्म के भेद और उनके कार्य, निषेकरचना, जीवसमास, पंचपरावर्तन, मार्गणा आदि अनेक विषयों पर चर्चा की थी। सोलापूर का समाज स्वाध्यायप्रेमी है। वहाँ के लोगों ने इस विषय का स्वागत किया।

पर्याप्ति की चर्चा के पश्चात् `प्राण' प्ररूपणासंबंधी आज हम जानकारी लेंगे। प्राणी शब्द से हम परिचित हैं। सजीवों को प्राणी कहते हैं। प्राणवाला वह प्राणी है। तुमने कहावत सुनी होगी कि मेरा बच्चा मेरा जीव है, मेरा प्राण है। जीव को ही प्राण कहा है। मरण होने पर हम कहते हैं ना कि अरे इसका प्राण निकल गया यानि जीव निकल गया।

चैतन्य भावप्राण को धारण करनेवाला जीव है। चेतना यानि ज्ञानदर्शनरूप शक्ति। इस चेतना को ही प्राण कहते हैं। जहाँ चैतन्यव्यापार रुक जाता है, वहाँ इंद्रिय और शरीर के होते हुअे भी चेतना के अभाव में `प्राण निकल गया' इस निष्कर्ष पर हम पहुंचते हैं।

जीव सदाकाल भावप्राणों से युक्त ही होता है, प्राणविरहित कभी होता ही नहीं है। हमारा जीव नाम कैसे पड़ा इसका कभी विचार किया है तुमने ? जो जीता है, पूर्व में जीता था और भविष्य में जियेगा वह जीव है। जो स्वयं `जीवन' है उसे भला मरण की चिंता कैसे हो सकती है ? परंतु इस जीव का दुर्भाग्य तो देखो, यह जीव ऐसा बुध्दु है कि मरण के भय से ही मरा जा रहा है।

शरीर के बिना मैं कैसे रह सकता हूँ ? मुझे जीने के लिए हवा, जल, अन्न आदि की जरूरत है और उनके कारण मेरा अस्तित्व टिका हुआ है इसतरह यह जीव मानता आ रहा है।

हे जीव ! सिध्द भगवान जीव हैं या नहीं ? वे तो अनंत काल तक अशरीरी रहते हैं फिर भी अनंतसुखी हैं, अनंतज्ञानी हैं। हे जीव ! तू भी तो अशरीरी ही है। तेरी सत्ता, तेरा अस्तित्व तेरे में है, तेरे अपने कारण वह कायम है, चैतन्यमय है, शरीर का अस्तित्व भिन्न है, अचेतन है।

तू तो एक जीवद्रव्य, चेतना गुण का धारी, अरूपी, संकोच विस्तारवाला असंख्यात प्रदेशी है और शरीर तो अनंतानंत पुद्गल परमाणुओं का पिंड है। जो अचेतन है, रूपी है, गलन-मिलन क्रिया से युक्त है, उसमें निरंतर अनंत परमाणु आते जाते रहते हैं। अरे बाबा ! इस अचेतन के संयोग को तूने स्वयं का जीवन मान लिया। इस शरीर का संयोग होने पर मैं जन्मा और वियोग होने पर मैं मरा मान लिया। पूरी दुनिया का निर्णय करनेवाला यह सयाना स्वयं के बारे में कभी सोचने के लिए भी राजी नहीं है।

शरीर की उपस्थिति में भी जानने का कार्य तो जीव स्वयं ही करता है। इंद्रियां तो अचेतन, पुद्गल हैं। परंतु जानने के काल में उनकी निमित्तरूप से उपस्थिति रहती है। इंद्रिय, मन, वचन, काय, श्वासोच्छ्वास आदि के कार्य को 'द्रव्यप्राण' कहते हैं।

द्रव्यप्राण कितने हैं ? और किस जीव को कितने प्राण होते हैं इसकी चर्चा अब हम करेंगे।

कुल दस प्राण हैं - उनमें 4 प्रकार के प्राण हैं - इंद्रियप्राण, बलप्राण, श्वासोच्छ्वासप्राण और आयुप्राण इनके सभी प्रभेद मिलाकर दस प्राण होते हैं। वे इसप्रकार हैं - पांच इंद्रियप्राण (1) स्पर्शन (2) रसना (3) घ्राण (4) चक्षु (5) श्रोत्र इंद्रियप्राण हैं। तीन बलप्राण (1) कायबल (2) वचनबल (3) मनबल बलप्राण हैं। एक श्वासोच्छ्वास प्राण है और एक आयु प्राण इसप्रकार दस प्रकार का कार्य यानि व्यापार द्रव्यप्राण है और इंद्रियावरण के क्षयोपशम से होनेवाली चैतन्य परिणति 'भावप्राण' है।

द्रव्यप्राण के उत्पन्न होने को हम जन्म और उसके नाश को हम मरण कहते हैं। संज्ञी पंचेंद्रिय पर्याप्त जीवों के दस प्राण होते हैं। अपर्याप्त अवस्था में श्वासोच्छ्वास प्राण, वचनबल प्राण और मनबल प्राण नहीं होता। इसलिए संज्ञी पंचेंद्रिय के अपर्याप्त अवस्था में मात्र सात ही प्राण होते हैं।

असंज्ञी पंचेद्रियों के पर्याप्त अवस्था में एक मनबलप्राण छोड़कर नौ प्राण होते हैं और अपर्याप्त अवस्था में वचनबलप्राण और श्वासोच्छ्वासप्राण बिना सात प्राण होते हैं।

चतुरिंद्रिय पर्याप्तों के एक श्रोत्रेंद्रियप्राण और मनबलप्राण बिना आठ और अपर्याप्तों के छह प्राण होते हैं।

त्रींद्रिय पर्याप्तों के और एक-चक्षु इंद्रिय प्राण बिना सात प्राण और अपर्याप्तों के पांच प्राण होते हैं।

द्वींद्रिय पर्याप्तों में और एक घ्राणेंद्रियप्राण बिना छह प्राण और अपर्याप्तों के चार प्राण होते हैं। एकेंद्रियों के पर्याप्तों के स्पर्शनेंद्रियप्राण, कायबलप्राण, श्वासोच्छ्वासप्राण और आयुप्राण कुल मिलाकर चार ही प्राण होते हैं। उनके वचनबलप्राण नहीं होता। एकेंद्रियों के अपर्याप्तों के श्वासोच्छ्वासप्राण बिना तीन ही प्राण होते हैं।

13 वें सयोगकेवली गुणस्थान में ज्ञान क्षायिक होता है इसलिए वहाँ क्षायोपशमिक ज्ञानरूप द्रव्येंद्रिय प्राण और मनबलप्राण नहीं होते। इन जीवों के कायबलप्राण, वचनबलप्राण, श्वासोच्छ्वासप्राण और आयुप्राण चार ही प्राण होते हैं। आगे चलकर इसी 13 वें गुणस्थान में वचनबल का अभाव होने पर तीन प्राण और आखिर में श्वासोच्छ्वास का अभाव होने पर दो ही प्राण रहते हैं।

14 वें अयोगकेवली गुणस्थान में एकमात्र आयुप्राण होता है, वहाँ कायबलप्राण नहीं है।

इसप्रकार संसारी जीवों के द्रव्यप्राण संभवते हैं। सिध्द भगवान तो भावप्राणों से युक्त अनंत काल तक जीते रहते हैं। हम सब जीव भी भावप्राणों से युक्त हैं इसलिए द्रव्यप्राणों के नाश को अपना नाश मानकर व्यर्थ शोक करना योग्य नहीं है।

द्रव्येंद्रियां तो कुछ जानती नहीं है। भावेंद्रियां यानि क्षयोपशम ज्ञान का जो उघाड है, वह भी जीव का अपना है, वह उसकी स्वयंसिध्द शक्ति है। कर्म ने ज्ञान को उत्पन्न नहीं किया। जीव की स्वयं की योग्यता के अनुसार पर्याय में ज्ञान की हीनाधिकता होती है और उसी समय कर्म में ज्ञानावरण और वीर्यांतराय का क्षयोपशम विद्यमान रहता है। परंतु जीव ने अपना ज्ञान कर्म के क्षयोपशम से ही होता है मान लिया।

जीव के जितनी भावेंद्रियां होती हैं उतने इंद्रियप्राण होते हैं। पंचेंद्रियों के पांच इंद्रियप्राण होते हैं। इसलिए अंध, बधिर मनुष्य भी पंचेंद्रिय जीव ही है। पर्याप्त और अपर्याप्त अवस्था में जीवों के इंद्रियप्राण समान होते हैं।

बलप्राणों में से कायबलप्राण एकेंद्रियों से पंचेंद्रियों तक सब के होता है। वचनबलप्राण द्वींद्रियों से संज्ञी पंचेंद्रियों तक सभी जीवों के होता है। परंतु मनबलप्राण मात्र संज्ञी पंचेंद्रियों के ही होता है। अपर्याप्त अवस्था में द्वींद्रियादिकों के वचनबलप्राण और मनबलप्राण नहीं होते। अपर्याप्त अवस्था में कायबल प्राण होता है।

आयुप्राण सभी जीवों में पाया जाता है। इसमें आयुकर्म का उदय निमित्त है। श्वासोच्छ्वासप्राण सभी पर्याप्त जीवों में होता है, अपर्याप्त जीवों में नहीं होता। सभी प्राणियों को प्राणवायु की जरूरत होती है इस बात का तो हमें पता है। बंद जख्म में पलनेवाले ॲनेरोबिक बैक्टिरिया (प्राणवायु बिना पलनेवाले कीटाणु) शायद अपर्याप्त जीव हो सकते हैं, हैं ना ?

अन्यमति एकेंद्रियों को जीव नहीं मानते। आज कल वैज्ञानिकों ने सिध्द करने पर वनस्पति में जीव है, मानने के लिए लोग तैयार हो गये हैं। तुम पूछोगी कि, `अग्नि जीव है या नहीं ? उसमें प्राण हैं या नही?' अग्नि के इंद्रियप्राण, कायबलप्राण और आयुप्राण के बारे में तो हम कुछ समझ नहीं सकते परंतु जलती हुअी मोमबत्ती कांच के पात्र में रखकर वह बंद करने पर मोमबत्ती बुझ जाती है। प्राणवायु के अभाव में अग्नि बुझ जाती है, इससे श्वासोच्छ्वासप्राण सिध्द होता है। प्राणवायु के बिना तो जल, वायु और पृथ्वी भी `मृत' होते हैं। इसप्रकार ये सभी एकेंद्रिय जीव हैं इस बात की सिध्दि होती है।

तुम पूछोगी कि, `पर्याप्ति और प्राण में क्या अंतर है ? दोनों में इंद्रिय, भाषा, मन और शासोच्छ्वास नाम समान हैं ?' अच्छा सवाल है। सुनो, पर्याप्ति तो जीव की शक्ति की पूर्णता को कहते हैं। उस शक्ति के अनुसार जो कार्य होता है उसे प्राण कहते हैं। पर्याप्ति कारण है, प्राण कार्य है। इन दोनों में कारण-कार्य संबंध है।

जैसे, आत्मा के विवक्षित प्रदेशों में पदार्थों को जाननेरूप (वर्णादि ग्रहणरूप) क्षयोपशमरूप शक्ति की पूर्णता होना इंद्रियपर्याप्ति है और इंद्रियों द्वारा पदार्थों को जाननेरूप (ग्रहणरूप) कार्य का होना इंद्रियप्राण हैं।

भाषावर्गणा को वचनरूप परिणमित करने की शक्ति की पूर्णता होना भाषापर्याप्ति है और जीव द्वारा भाषावर्गणा को वचनरूप परिणमाने का जो व्यापार होता है वह वचनबलप्राण है।

इसीतरह मन और श्वासोच्छ्वास के बारे में भी समझ लेना।

अब तुम्हारी समझ में आया ही होगा कि चैतन्यव्यापार जीव की निजशक्ति है। जीव उससे कभी जुदा यानि भिन्न नहीं हो सकता। वह तो जीव का लक्षण है। फिर भी शरीर के संयोग-वियोग को उपचार से जन्म-मरण संज्ञा दी जाती है, जीव के ज्ञान के उघाड अनुसार वह कितनी इंद्रियवाला जीव है कथन किया जाता है। प्राप्त पर्याय में कितने प्राण हैं यह कथन निमित्त का ज्ञान कराने के लिए किया हुआ कथन है। इसप्रकार का व्यवहार कथन सुनने पर भी उपादान की दृष्टि कभी भी छोड़नी नहीं चाहिए।

निमित्त का ज्ञान नहीं करेंगे तो ज्ञान अधूरा-अपूर्ण रहेगा। निमित्त होता ही नहीं ऐसा जानेंगे तो ज्ञान खोटा होगा और निमित्त ने कार्य किया मानेंगे तो श्रध्दा खोटी ठहरेगी - झूठी होगी।

आगमज्ञान तो प्रमाण ज्ञान है। उसमें उपादान निमित्त आदि सभी बातों संबंधी चर्चा और स्वरूप कथन किया जाता है। आगम द्वारा वस्तु का सर्वांगीण स्वरूप अपने ख्याल में आता है। द्रव्यानुयोग द्वारा इस बात का पता चलता है कि जीव इन सब से भिन्न है, स्वतंत्र है। इन सभी बातों का यथार्थ ज्ञान करने के पश्चात् त्रिकाली अभेद ध्रुव निजकारणपरमात्मा पर दृष्टि एकाग्र करने पर - उसमें एकत्व स्थापित करने पर उसकी प्राप्ति सुलभ है। जो प्रत्यक्ष विराजमान है उसकी दृष्टि करने पर यह 'स्व' भगवान आत्मा क्यों नहीं प्राप्त होगा ? अवश्य पर्याय में प्रकट होगा ही।

– तुम्हारी माँ

****

संज्ञा-प्ररूपणा
गति, इंद्रिय, काय-मार्गणा

पत्रांक 17 ॥ ॐ नमः सिध्देभ्यः ॥ 1 अक्तूबर 1999

प्रिय रीना एवं मोना,

अनेक उत्तम शुभाशीर्वाद ।

हमने गत पत्र में देखा था कि जीव का चैतन्य व्यापार उसका भावप्राण है। इस प्राण की पर्वा किए बिना हम दिनरात किसके पीछे भाग रहे हैं ? कौनसे सुख की ओर आशा भरी निगाहें लगायें बैठे हैं ? इस बात का विचार करने की भी किसी को फुरसत नहीं है । एक भाग रहा है इसलिए दूसरा भागता है, दूसरा भाग रहा है इसलिए तीसरा भागता है इसप्रकार की परिस्थिति सर्वत्र दिखाई दे रही है ।

बेटीयों, तुम्हारे दादाजी ने बहुत पहले से हम सब को पैसों का व्यवस्थित हिसाब लिखने की आदत ड़ाली थी । वह परम्परा आज भी हमने कायम रख्खी है और तुम्हें भी बचपन से इसकी शिक्षा दी है । पैसे कहीं बिना वज़ह खर्च तो नहीं होते हैं ? इस बाबत में हम सावधान रहते हैं। नल से पानी बिना वज़ह बहता जाता हो, पानी की बरबादी होती हो तो हम सावधानीपूर्वक नल बंद करते हैं । पैसे और पानी का मूल्य हमारी समझ में आता है परंतु अपने प्राणों की कीमत अर्थात् चैतन्य का मूल्य हम अभी तक समझे नहीं हैं ।

अपना चैतन्य उपयोग हम कहाँ कहाँ लगा रहें हैं? वह बिना वज़ह बरबाद तो नहीं हो रहा? इसकी सावधानी की तो बात छोड़ो, उससंबंधी विचार भी कभी हमारे मन को स्पर्शता नहीं ।

शास्त्र में तीन प्रकार की चेतना का कथन आता हैं - (1) कर्मफल चेतना (2) कर्मचेतना (3) ज्ञानचेतना ।

एकेंद्रियादि पर्यायों में यह जीव दुःखी है, उस दुःख को दूर करने का कुछ उपाय भी वह नहीं करता । कर्म के फल में स्वयं को सुखी-दुःखी अनुभव करता है । उन जीवों की चेतना मात्र सुख दुःख का वेदन करने में ही अटकी होने से उसे `कर्मफलचेतना' कहते हैं ।

जो जीव इन दुःखों के निवारण एवं सुख की प्राप्ति के लिए अज्ञानवश रागद्वेषादि करता है, परद्रव्यों को परिणमाना चाहता है और मानता भी है कि वह परिणमा सकता है; परंतु अन्य द्रव्यों की पर्यायें पलटाने में असमर्थ होने के कारण राग, द्वेष करता है। यह उसका भावकर्म है और ज्ञान अर्थात् चेतना उसीमें अटकी रहने से तथा उन रागादिकों को अपना स्वभाव मानने से वह जीव कर्मचेतनावाला कहा जाता है।

अब रही ज्ञानचेतना। जो जीव कर्म के उदय में होनेवाले सुखदुःख और रागादिभाव इनसे अपने ज्ञान को भिन्न अनुभवता है, त्रिकाली ज्ञायक स्वभाव में-जाननेवाले तत्त्व में ज्ञान को लगाता है - जोड़ता है और अभेदरूप से स्वयं को ज्ञायकरूप से अनुभव करता है, वह जीव ज्ञानचेतना का धारक है।

चौथे गुणस्थान से जीव ज्ञानचेतना का धारक होता है। 4 थे, 5 वें गुणस्थान में कर्मचेतना और कर्मफलचेतना होने पर भी वह वेदन की अपेक्षा है, उन जीवों के उनका स्वामीपना नहीं है। मुनि को ज्ञानानंद परिणति निरंतर विद्यमान होने के कारण ज्ञानचेतना के धारक कहा है। यह अध्यात्म अपेक्षा है।

परंतु आगम अपेक्षा से जब तक रागादि विद्यमान हैं तब तक उसके प्रमाण में कर्मचेतना है और जिस प्रमाण में रागादि हैं उस प्रमाण में दुःख की अनुभूति होने से कर्मफलचेतना भी है।

हे जीव, अनादिकाल से तू अनंत भवों में भटकता फिर रहा है। अब वर्तमान का यह एक भव तू इस कार्य में लगा दे - स्वयं को पहचान। देख तेरा भवभ्रमण मिट जायेगा।

इस संसार में पायी जानेवाली विविध अवस्थायें, पुण्य पाप का खेल, रागादिकों की तीव्रता, परस्पर ईर्षा, द्वेष, धनसंपत्ति के पीछे पागल की भाँति दौड़ आदि सब देखकर क्या तुझे इनसे भय नहीं लगता ? दुःख नहीं भासित होता ?

शास्त्र में कथन आता है कि, पंचम काल के जीवों के परिणामों का वर्णन सुनकर चतुर्थ काल के कितने ही जीवों को वैराग्य उत्पन्न हुआ और उन्होंने सम्यग्दर्शन की प्राप्ति कर ली। परंतु इन्हीं परिणामों में दिन रात मग्न रहकर हम आनंद मान रहें हैं, भविष्य की ओर आशा भरी निगाहें लगाकर बैठे हैं - धन्य है हमारी !!

हे जीव ! अनंत भवों के उलटे संस्कार तुझे इस एक भव में मिटाने हैं। तेरे पुरुषार्थ का यह अवसर आया हुआ है, संधी प्राप्त हुअी है।

स्वयं के चैतन्य स्वरूप का स्वीकार करके, अंतर्मुख होकर, उसमें एकाग्रता करने पर हमें अपने अविनाशी पद की प्राप्ति होती है।

बेटीयों, तुम कहोगी, `माँ को बार बार क्या हो जाता है? चालू विषय छोड़कर गाड़ी कहीं अन्यत्र भागती है।' अरे जीवों ! करने योग्य एकमेव यही है। करणानुयोग समझाने का तो एक बहाना है। असल में तो इसके द्वारा वीतरागता की प्राप्ति ही एकमात्र प्रयोजन है।

अब तक हमने गुणस्थान, जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण प्ररूपणा देखी। अब `संज्ञा' प्ररूपणा के बारे में समझकर हम मार्गणासंबंधी अध्ययन करेंगे।

आहार, भय, मैथुन और परिग्रह के निमित्त से जो वांछा-वासना उत्पन्न होती है, उसे `संज्ञा' कहते हैं। संज्ञा से बाधित-पीड़ित जीव विषयों का सेवन करके भी, इहलोक या परलोक में उन विषयों की प्राप्ति या अप्राप्ति होने पर महादुःखी होते हैं। वांछा ही सभी दुःखों का मूलकारण है।

अन्नादिक खाद्यपदार्थ का देखना, स्मरण होना, उसकी चर्चा सुनना, पेट खाली होना, भूख लगना आदि आहारसंज्ञा के बाह्य कारण हैं। असातावेदनीय कर्म का तीव्र उदय या उदीरणा अंतरंग कारण है। यह संज्ञा 6 ठवें प्रमत्त गुणस्थान तक ही पायी जाती है, 7 वें अप्रमत्त गुणस्थान से इसका अभाव वर्तता है।

भीतिदायक प्राणी-भूतप्रेतादि को देखना, उनकी कथायें सुनना, स्मरण करना, स्वयं शक्तिहीन होना आदि भयसंज्ञा के बाह्य कारण हैं। भय नोकषाय कर्म का तीव्र उदय अंतरंग कारण है। भय के कारण भाग जाना, छिप जाना आदिरूप वांछा का होना भयसंज्ञा है।

कामसेवन की वांछा मैथुनसंज्ञा है। गरिष्ट भोजन करना, कामोत्तेजक बातें सुनना, कुशील व्यक्ति के सहवास में रहना आदि इसके बाह्य कारण हैं और वेद नोकषाय कर्म की उदीरणा अंतरंग कारण है।

धन धान्यादि परिग्रह इकट्ठा करने एवं बढ़ाने की वांछा परिग्रहसंज्ञा है। बाह्य परिग्रह देखना, उसकी चर्चा सुनना, लोभी परिग्रही अन्य व्यक्ति का सहवास आदि इसके बाह्य कारण हैं और लोभ कषाय की उदीरणा अंतरंग कारण है।

ये अन्य तीन संज्ञा भी 7 वें गुणस्थान से ऊपर उपचार मात्र हैं। उनका कार्य नहीं पाया जाता, मात्र उन कर्मों का उदय पाया जाता है। 9 वें गुणस्थान के प्रथम भाग में भयसंज्ञा का अभाव होता है, दूसरे भाग में मैथुनसंज्ञा का अभाव होता है। सूक्ष्म लोभ 10 वें गुणस्थान में पाया जाता है इसलिए तब तक परिग्रहसंज्ञा विद्यमान रहती है, उसके बाद नहीं।

इसतरह हमने संज्ञा प्ररूपणा देखी। अब मार्गणा विषय पर चर्चा करेंगे। जीवद्रव्य अरूपी होने के कारण दिखाई नहीं देता। सिध्द जीव कर्म और शरीर से रहित शुध्द अवस्था में लोकाग्र में यानि लोकाकाश के शिखर पर विराजमान हैं, वे तो हमें दिखाई देते नहीं। आगम में तो जीव का वर्णन बहुत आता है। जीव स्वयं को स्वयं के ज्ञान द्वारा जान सकता है परंतु अन्य जीवों को देख नहीं सकता। इस परिस्थिति में जीवों को कहाँ ढूँढें? कहाँ ढूँढ़ने पर जीव पाये जाते हैं इस बात की जानकारी हमें मार्गणा द्वारा प्राप्त होती है।

जिनके द्वारा जीवों की जानकारी प्राप्त होती है या जिनमें जीव पाये जाते हैं, वे मार्गणा हैं। मार्गणा यानि अन्वेषण-खोज। इन मार्गणाओं में हम जीव की खोज कर सकते हैं - जीवों का अनुमान कर सकते हैं।

कुछ विवक्षित लक्षणों, संयोगों, शरीर, इंद्रियों या अन्य विभिन्न अपेक्षाओं द्वारा सभी संसारी जीवों का विभाजन करने में आता है। जैसे, देश की अपेक्षा मनुष्यों का विभाजन करने पर कोई भारतीय, कोई जापानी, कोई अमेरिकन आदि विभाजन होगा। वहीं व्यवसाय की अपेक्षा विभाजन करने पर कोई डॉक्टर, कोई इंजिनियर, कोई व्यापारी, तो कोई व्यवसायरहित, कोई किसान तो कोई कामगार होंगे। अपेक्षा बदलने पर एक ग्रुप के व्यक्तिओं का वापस अन्य ग्रुप्स में विभाजन होगा।

स्त्री-पुरुष की अपेक्षा कोई स्त्री हैं तो कोई पुरुष हैं। उमर की अपेक्षा कोई बालक हैं, कोई जवान हैं तो कोई वृध्द हैं। बुध्दि की अपेक्षा कोई बुध्दिमान हैं, तो कोई मतिमंद हैं, अन्य कितने ही साधारण बुध्दिवाले हैं। धन की अपेक्षा कोई सधन हैं तो कोई निर्धन हैं।

इसीप्रकार चौदह मार्गणा द्वारा - चौदह भिन्न भिन्न अपेक्षाओं द्वारा जीवों का भिन्न भिन्न प्रकार से विभाजन होता है। एक मार्गणा के एक ग्रुपवाले जीव अन्य मार्गणा की अपेक्षा अलग अलग ग्रुप्स में शामिल होंगे। जैसे, व्यवसाय की अपेक्षा जो डॉक्टर है, वह देश की अपेक्षा भारतीय होगा

या अमेरिकन, स्त्री-पुरुष की अपेक्षा स्त्री होगी या पुरुष होगा, उमर की अपेक्षा जवान होगा या वृध्द, परंतु बालक नहीं होगा ।

सर्व प्रथम हम 14 मार्गणा के नाम देखेंगे पश्चात् उनका स्वरूप देखेंगे (1) गतिमार्गणा (2) इंद्रियमार्गणा (3) कायमार्गणा (4) योगमार्गणा (5) वेदमार्गणा (6) कषायमार्गणा (7) ज्ञानमार्गणा (8) संयममार्गणा (9) दर्शनमार्गणा (10) लेश्यामार्गणा (11) भव्यमार्गणा (12) सम्यक्त्वमार्गणा (13) संज्ञीमार्गणा (14) आहारमार्गणा ।

(1) गतिमार्गणा :–

गतिमार्गणा में सभी संसारी जीव गति की अपेक्षा चार गतियों में पाये जाते हैं । (1) नरकगति (2) तिर्यंचगति (3) देवगति और (4) मनुष्यगति । गति नामक नामकर्म के उदय से जीव उस विवक्षित पर्याय में उत्पन्न होता है । इनमें से नरक, मनुष्य और देव गति के जीव संज्ञी पंचेंद्रिय ही हैं परंतु तिर्यंचगति में एकेंद्रिय से पंचेंद्रिय तक के सभी भेद पाये जाते हैं। `बालबोध पाठमाला' में गति नामक पाठ में तुमने विस्तार से पढ़ा ही है ।

(2) इंद्रियमार्गणा :–

इंद्रियमार्गणा का विचार करते हुअे सर्वप्रथम इंद्रिय क्या है, देखते हैं। द्रव्येंद्रिय तो हम देखते हैं, हम उनसे परिचित हैं । इंद्रिय दो प्रकार के हैं (1) भावेंद्रिय (2) द्रव्येंद्रिय । लब्धि और उपयोग दोनों मिलाकर भावेंद्रिय होता है ।

मतिज्ञानावरण के क्षयोपशम से इंद्रियों के विषयों को जानने की जीव की शक्ति `लब्धि' है और विषय जानने के प्रवर्तनरूप कार्य अर्थात् व्यापार `उपयोग' है । जैसे, किसी बालक को सुनने की शक्ति तो है, परंतु उसका उपयोग अन्यत्र खेलने या देखने में लगा हो तो उसे पुकारने पर भी उसे आवाज सुनायी नहीं देगी । इसके विपरीत ऐसा भी कोई व्यक्ति होगा कि जो जानना तो चाहता है परंतु क्षयोपशमरूप शक्ति के अभाव में वह जान नहीं सकेगा । इसलिए लब्धि और उपयोग दोनों मिलाकर विषयों का ज्ञान होता है ।

द्रव्येंद्रिय तो शरीर के विवक्षित स्थान की रचना है - चिन्ह है । निर्वृत्ति और उपकरणरूप द्रव्येंद्रिय है । जिन प्रदेशों से जाना जाता है वे निर्वृत्ति कहलाते हैं और उसके निकटवर्ती उपकरण है ।

पहले हमने जीवसमास में जीवों के एकेंद्रियादि भेद देखे थे। इंद्रियों की अपेक्षा सभी संसारी जीवों के एकेंद्रिय, द्वींद्रिय, त्रींद्रिय, चतुरिंद्रिय और पंचेंद्रिय पांच भेद होते हैं।

(3) कायमार्गणा :–

कायमार्गणा में काया यानि शरीर की अपेक्षा सभी संसारी जीवों का विभाजन किया हुआ है। 'षट्काय जीवों की हिंसा से हमें बचना चाहिए' यह शास्त्रवचन तुमने पढ़ा होगा। ये षट् यानि 'छह काय' कौनसे हैं ? क्या इसकी जानकारी है तुम्हें ? नहीं होगी तो सुनो। उनमें से एक त्रसकाय है और शेष पांच स्थावरकाय हैं।

पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक पांच स्थावर या स्थावरकाय जीव हैं। उन्हें स्थावर नामकर्म का उदय रहता है। द्वींद्रिय से संज्ञी पंचेंद्रिय तक के सभी जीवों को त्रस या त्रसकायिक जीव कहते हैं। उन्हें त्रस नामकर्म का उदय वर्तता है। देव, नारकी, मनुष्य और द्वींद्रिय से पंचेंद्रिय तक के तिर्यंच त्रस जीव हैं।

पृथ्वीकायिकों में पृथ्वी, मिट्टी, रेत, पत्थर, हिरा, माणिक, रत्न आदि हैं। जलकायिकों में कुआँ, झरना, नदी आदि का जल, कोहरा, ओस आदि का जल इनका समावेश होता है। वायुकायिकों में घनोदधिवात, घनवात, तनुवात आदि भेद हैं। अग्निकायिकों में विभिन्न प्रकार के अग्नि-चिंगारी, अग्नि, जलता हुआ कोयला, बिजली, इलेक्ट्रिक करंट आदि हैं।

उपरोक्त सभी बादर स्थावर जीव हैं। उनका समुदाय हमें आँखों से दिखाई देता है। इन पांचों स्थावरों के सूक्ष्म जीव संपूर्ण लोकाकाश में ठसाठस भरे हुअे हैं। वे आँखों से तो दिखते ही नहीं, अन्य वस्तुओं से रोके भी नहीं जाते। वे स्वयं भी अन्य किसी को रोकते नहीं है और किसी के आधार बिना ही रहते हैं। पहले हमने बताया था, याद है ना ?

प्रत्येक स्थावर में तीन तीन भेद होते हैं। पृथ्वी के उदाहरण से इन भेदों को समझेंगे। उनमें तीन भेद हैं - पृथ्वी जीव, पृथ्वीकायिक जीव और पृथ्वीकाय।

कोई जीव पूर्व पर्याय छोड़कर पृथ्वीकायिक में जन्म लेने के लिए गमन करते हुअे जब तक विग्रहगति में रहता है तब तक उसे पृथ्वी जीव कहते हैं। जब वह पृथ्वीरूप शरीर को धारण करता है तब उसे पृथ्वीकायिक जीव कहते हैं। पृथ्वीकायिक जीव मरकर अन्यत्र गमन करता है तो उसका शरीर रह जाता है उसे पृथ्वीकाय कहते हैं।

ऊपर बताये हुअे तीनों ही भेद जिसमें गर्भित है ऐसा सामान्यरूप पृथ्वी नामक चौथा भेद भी शास्त्रों में कहीं कहीं बताया है। इसतरह ये चार चार प्रकार सभी स्थावर जीवों में पाये जाते हैं।

वनस्पतिकायिकों के भेद प्रभेद हमने पहले जीवसमास में देखे ही थे। यहाँ फिर एक बार उसे दोहराते हैं।

वनस्पतिकायिक जीवों के मुख्य दो भेद हैं - प्रत्येक वनस्पति और साधारण वनस्पति। प्रत्येक वनस्पति का अर्थ है एक शरीर में एक जीव और साधारण वनस्पति का अर्थ है एक शरीर में अनंत जीव। साधारण वनस्पति को ही निगोद कहते हैं। उनका शरीर एक, श्वासोच्छ्वास एक, जन्म एक साथ, मरण एक साथ, आयु समान, पर्याप्ति समान आदि विशेषतायें हमने पहले देखी ही थी।

प्रत्येक वनस्पति बादर एकेंद्रिय जीव हैं। उनके सप्रतिष्ठित अर्थात् प्रतिष्ठित और अप्रतिष्ठित दो भेद हैं। जिन प्रत्येक वनस्पति के आधार से साधारण वनस्पतिकायिक जीव रहते हैं उन्हें प्रतिष्ठित या सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति कहते हैं। जैसे, पेड़ के अत्यंत कोमल छोटे छोटे पत्ते कि जिसमें नस या सिरायें नहीं दिखती, अत्यंत छोटे फल, ककड़ी आदि कि जो तोड़ने पर समभंग होता है - प्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति हैं।

वे ही पत्ते और फल थोड़े बड़े हो जाते हैं तो पत्तों में सिरायें दिखती हैं, तोड़ने पर समभंग नहीं होता, परंतु तंतु चिपके रहते हैं तब समझना कि अब वहाँ निगोद यानि साधारण वनस्पति जीव नहीं रहते इसलिए अब उन पत्तों-फलों को अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति कहते हैं। सप्रतिष्ठित और अप्रतिष्ठित दोनों प्रकार के वनस्पति में पर्याप्त और अपर्याप्त दो दो भेद पाये जाते हैं।

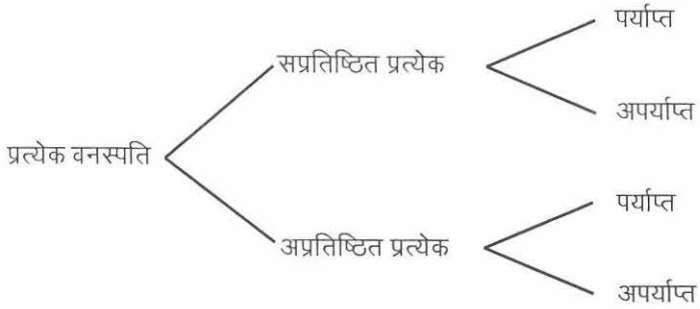

इसतरह प्रत्येक वनस्पति के 4 भेद हमने देखे। अब साधारण वनस्पति यानि निगोद के भेद देखेंगे। निगोद नाम शास्त्र में हम अनेक बार पढ़ते हैं परंतु इसका अर्थ बहुत से लोगों को ज्ञात नहीं है। साधारण वनस्पति अर्थात् निगोद के सूक्ष्म और बादर दो मुख्य भेद हैं। दोनों में नित्यनिगोद और इतरनिगोद दोनों प्रकार के जीव पाये जाते हैं।

नित्यनिगोद का अर्थ है कि जो जीव अनादिकाल से आज तक निरंतर निगोद पर्याय में ही जन्म मरण करते आ रहे हैं, अन्य किसी भी पर्याय में उन्होंने एक बार भी जन्म धारण नहीं किया है।

इतरनिगोद उन जीवों को कहते हैं कि जो जीव निगोद पर्याय से निकलकर अन्य एकेंद्रियों या त्रस पर्यायों में जन्म धारण करके, कुछ काल वहाँ जन्म मरण करके, पुनः वापस निगोद पर्याय धारण करके वर्तमान में निगोद में ही जन्ममरण कर रहे हैं।

इन सभी के पर्याप्त-अपर्याप्त दो-दो भेद होते हैं। निगोद कहते ही एक श्वास में अठारह बार जन्म मरण ऐसी अनेकों की मान्यता है। वह मात्र अपर्याप्त निगोद के बारे में सही है। इतना ही नहीं, एकेंद्रिय से लेकर संज्ञी पंचेंद्रिय तक के सभी अपर्याप्त जीव इतनी अल्प आयु के धारी होते हैं। पर्याप्ति प्ररूपणा में हमने देखा था कि ऐसे अपर्याप्त जीव निरंतर क्षुद्रभव धारण करते रहे तो एक अंतर्मुहूर्त में एक जीव के 66336 भव होते हैं। उनमें से लगातार एकेंद्रियों के क्षुद्रभव 66132 होते हैं।

उनमें पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और साधारण वनस्पति के हर एक के सूक्ष्म और बादर दो-दो भेद करने पर दस तो ये हुअे और प्रत्येक वनस्पति का एक कुल मिलाकर ग्यारह प्रकार के एकेंद्रिय जीव हैं और सबके अपर्याप्त भेद भी हैं। इसलिए 66132 ÷ 11 = 6012। हर एक प्रकार के एकेंद्रियों में लगातार क्षुद्रभव होते रहे तो एक अंतर्मुहूर्त में 6012 भव होते हैं।

बादर साधारण वनस्पति अर्थात् बादर निगोद मात्र प्रत्येक वनस्पति के आधार से ही रहते हैं ऐसा नहीं है। द्वींद्रिय से पंचेंद्रिय तक के तिर्यंचों के एवं मनुष्यों के शरीर के आधार से वे रहते हैं। इसमें अपवाद है केवली के शरीर का और आहारक शरीर का। 12 वें गुणस्थानवाले जीव के औदारिक शरीर में से बादर निगोद राशी निकल जाती हैं और 13 वें गुणस्थान में उसका परम औदारिक शरीर बन जाता है।

पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय के आधार से भी बादर निगोद नहीं रहते। देव और नारकी के वैक्रियिक शरीर में भी बादर निगोद नहीं रहते। बादर निगोद कहने का कारण है कि सूक्ष्म निगोद तो सर्वत्र रहते हैं, उन्हें अन्य किसी के आधार से रहने की जरूरत नहीं है।

साधारण वनस्पति के भेद प्रभेद निम्नप्रकार हमने देखे।

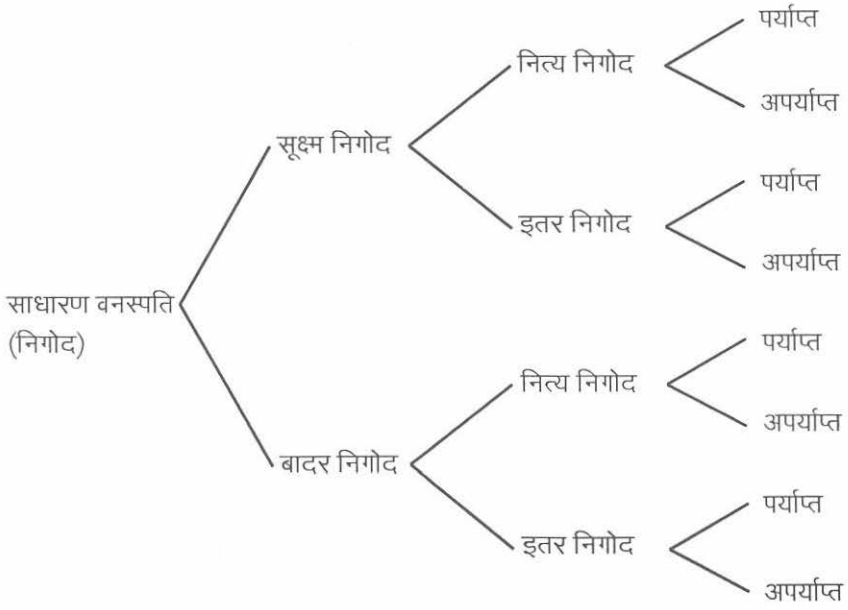

इसप्रकार प्रत्येक वनस्पति के चार और साधारण वनस्पति के आठ भेद हमने देखे।

हे जीव ! इन सब पर्यायों में अनादि से आज तक अनंतकाल तूने जन्ममरण करने में बिताया है। तुझे स्मरण नहीं तो क्या हुआ? इन सब पर्यायों को पार करके अत्यंत दुर्लभ मनुष्यपर्याय तुझे प्राप्त हुअी है। परंतु तुझे उसकी कीमत नहीं है। यदि अब भी तुझे स्वयं के कल्याण की बात सूझती न हो या किसी ने तुझे बता दी तो रुचती न हो, तो समझ ले इन पर्यायों में पुनः वापस लौटकर जाना निश्चित है।

क्षुद्रभवों में सम्मूर्च्छन मनुष्यभव भी समाविष्ट है। एक अंतर्मुहूर्त में उनके निरंतर ४ भव हो सकते हैं। ऐसे मनुष्य भव प्राप्त होकर भी क्या फायदा?

उनकी तो बात छोड़ो । परंतु बेटीयों, हे जीव, तुम तो अभी पर्याप्त मनुष्य हो, ज्ञान का इतना उघाड है, सच्चे देव, गुरु, शास्त्र एवं उनका यथार्थ उपदेश तुम्हें प्राप्त हो गया है, इतना सब होने पर भी यदि तुमने स्वयं का आत्मस्वभाव और आत्मवैभव नहीं देखा, नहीं जाना तो तुम्हारे इस मनुष्यभव का भी क्या फायदा हुआ?

कोई जीव शुभभाव करेगा तो उसे एक भव स्वर्ग का प्राप्त होगा । वहाँ जाने पर ऐश्वर्य-भोग भोगने की इच्छारूप पाप करके तथा तीव्र ईर्षा और आकुलता करके वह जीव पृथ्वीकायिकादि एकेंद्रियों मे जन्म लेगा । और फिर से भवभ्रमण करता ही रहेगा ।

हे जीव, दुनियादारी में तू स्वयं को इतना सयाना समझता है, तुझे यह सीधी सरल स्वयं के लाभ की बात क्यों नहीं समझ में आती?

मुझे विश्वास है तुम इस बात पर जरूर विचार करोगी ।

शेष आगामी पत्र में ।

– तुम्हारी माँ

****

योग, वेद, कषाय, ज्ञान और संयम - मार्गणा

पत्रांक 18 ॥ ॐ नमः सिध्देभ्यः ॥ 2 अक्तूबर 1999

प्रिय रीना एवं मोना,

अनेक उत्तम शुभाशीर्वाद ।

गत पत्र से हम मार्गणा विषय पर चर्चा कर रहे हैं । चौदह मार्गणाओं में से हमने गतिमार्गणा, इंद्रियमार्गणा, कायमार्गणासंबंधी चर्चा की थी । आज और कुछ मार्गणाओं के बारे में हम समझेंगे ।

(4) योगमार्गणा :–

सर्वप्रथम योग शब्द का अर्थ देखते हैं ।

संसारी जीव अनादि से ही कर्मसंयुक्त है और वह निरंतर नवीन नवीन कर्मों का बंध करता रहता हैं और शरीरसंबंधी नोकर्मवर्गणा भी ग्रहण करता है । कर्म-नोकर्मवर्गणा को कर्म-नोकर्म रूप परिणमाने की आत्मा की जो शक्ति है, उसे `भावयोग' कहते हैं । आत्मा के प्रदेशों का चंचलरूप होना-सकंप होना - चलनरूप होना - `द्रव्ययोग' है ।

जिसप्रकार अग्नि के संयोग से लोहे में जलाने की शक्ति उत्पन्न होती है उसीप्रकार अंगोपांग और शरीर नामकर्म के उदय के कारण भाषावर्गणा, मनोवर्गणा और आहारवर्गणा के स्कंध आते हैं । तब उनसे संबंध जोडने यानि अवलंबन लेने के कारण जीव के प्रदेशों में कर्म-नोकर्म का ग्रहण करने की शक्ति-सामर्थ्य अर्थात् योग उत्पन्न होता है ।

मन, वचन और शरीर का अवलंबन लेकर जीव मन द्वारा जाननेसंबंधी, बोलनेसंबंधी एवं शरीर की हालचाल करनेसंबंधी प्रयत्नरूप प्रवृत्ति करता है उस समय आत्मप्रदेशों की चंचलता के कारण नये नये नोकर्म स्कंध आकर जुड़ जाते हैं । इसे ही हम मन, वचन, काय योग कहते हैं ।

देखो तो, कोई कसरतबाज-व्यायामबाज होगा तो उसका शरीर भी मजबूत-बलवान दिखता है । जिन अवयवों को वह अधिक काम में लेता है वे अवयव अधिक बलवान और मोटे दिखते हैं । इसका अर्थ यह हुआ कि योग द्वारा उन विवक्षित स्कंधों का अधिक संचय हुआ । कुछ काल तक हम विवक्षित स्नायु काम में न ले - उसका इस्तेमाल न करे तो वह दुबला होता है - सूख जाता हैं - Disuse Atrophy होती है । इसीलिए पोलिओग्रस्त पैर से चलने का काम नहीं किया जाता तो वह छोटा रह जाता है । इसतरह से

कारण-कार्य संबंध पर हम सोचे तो लौकिक व्यवहार की अनेक बातों का रहस्य खुल जाता है।

तीन प्रकार के योग संभवते हैं - मनोयोग, वचनयोग और काययोग। योग का सद्भाव 13 वें सयोगकेवली गुणस्थान तक पाया जाता हैं। 14 वें अयोगकेवली गुणस्थान में योगों की चंचलता पूर्णतः मिट जाती है, वहाँ योग का अभाव रहता है।

संज्ञी पंचेंद्रियों के तीनों ही योग होते हैं। जिनके मन नहीं है परंतु वचन है ऐसे द्वींद्रिय से असंज्ञी पंचेंद्रियों तक के जीवों के वचनयोग और काययोग दो योग होते हैं। जिनके मन और वचन दोनों भी नहीं हैं ऐसे एकेंद्रियों को एक मात्र काययोग ही होता है। विग्रहगति में योग होगा या नहीं ऐसी तुम्हें आशंका होना - सवाल उठना - स्वाभाविक है। वहाँ जीवों के कार्माण काययोग होता है।

इसका तात्पर्य यह हुआ कि अनादिकाल से संसारी जीव एक समयमात्र के लिए भी कभी योगविरहित नहीं हुअे। जो जीव अरहंत अवस्था प्राप्त करते हैं उनके 14 वें गुणस्थान के पहले समय से योग का अभाव वर्तता है अर्थात् उनका कर्म-नोकर्म का ग्रहण पूर्णरूप से रुक जाता है।

जीव के एक समय में एक ही योग रहता है। मनोयोग चलता होगा तो अन्य दो योग नहीं होते। वचनयोग या काययोग चलता होगा तब शेष दो योग नहीं रहेंगे। यह कैसे संभव है ऐसा सवाल उठना उचित है क्योंकि एक ही काल में मन, वचन और शरीर के कार्य एक साथ होते हुअे हम प्रत्यक्ष देखते हैं। इसका कारण इसप्रकार है कि अन्य योगों के जो संस्कार रह जाते हैं उनके कारण उन अन्य योगों की क्रिया एकसाथ देखने में आती है।

जीव बोलने की क्रिया करते करते वचनयोग पलटकर मनोयोग शुरू होता है परंतु पूर्व के वचनयोग के बल से बोलने की क्रिया भी चलती रहती है। सर्कस में हम देखते हैं कि सर्कस का कोई खिलाड़ी दो हाथों से 5-5, 6-6 गेंद हवा में उछालता रहता है, वैसी कला उस कलाकार ने अभ्यास से हासिल की हुअी है। उसीतरह योगों का पलटना भी इतनी शीघ्रता से होता है कि मन, वचन और काय तीनों की क्रियायें एकसाथ चलती रहती हैं, उनमें खंड नहीं पड़ता।

मनोयोग के चार, वचनयोग के चार और काययोग के सात भेद-प्रकार हैं। सत्य, असत्य, उभय और अनुभयरूप जो पदार्थ हैं उन्हें जानने में जीव की प्रवृत्ति होती है तब चार प्रकार के मनोयोग होते हैं और उन पदार्थों का

कथन करने की जीव की प्रयत्नरूप प्रवृत्ति होती है तब चार प्रकार के वचनयोग होते हैं।

सत्य, असत्य आदि प्रकार पदार्थों में कैसे संभव है उसका उदाहरण देखकर समझेंगे। जल को जल जानना सत्य है क्योंकि उस जल से तृषा बुझा सकते हैं। मृगजल को जल जानना असत्य है क्योंकि उससे स्नान, पानादिक क्रियायें नहीं हो सकती। कमंडल को घट जानना उभय है। कमंडल में घट के समान जल रख सकते हैं इसलिए सत्य; परंतु कमंडल का आकार घट के समान नहीं है इसलिए असत्य, इसप्रकार उभय जानना। जिस पदार्थ का विशेष निर्णय नहीं होता उसे अनुभय कहते हैं। पदार्थ का विशेष स्वरूप भासित नहीं हुआ इसलिए सत्य नहीं है परंतु सामान्य रीति से पदार्थ को जाना इसलिए असत्य भी नहीं है। इस प्रकार अनुभय जानना।

इसप्रकार मनोयोग के सत्य, असत्य, उभय और अनुभय चार प्रकार हैं और वचनयोग के भी सत्य, असत्य, उभय और अनुभय चार प्रकार हैं। केवली भगवंतों के सत्य और अनुभय वचनयोग बताया है उसका कारण दिव्यध्वनि अनक्षरात्मक होने से अनुभय वचनरूप और श्रोता के कानों पर पड़ने पर अक्षरात्मक होकर उनके संशयादिक दूर करती है इसलिए सत्य वचनरूप है।

केवली भगवंतों को मनोयोग होता है ऐसा जो कथन आता है वहाँ उपचार से मनोयोग बताया है। छद्मस्थ जीवों के मनोयोगपूर्वक वचनव्यापार पाया जाता है इसलिए केवली को भी उपचार से मनोयोग का सद्भाव बताया है।

काययोग के सात प्रकार निम्नानुसार हैं -

(1) औदारिक काययोग (2) औदारिक मिश्र काययोग (3) वैक्रियिक काययोग (4) वैक्रियिक मिश्र काययोग (5) आहारक काययोग (6) आहारक मिश्र काययोग (7) कार्माण काययोग। इनमें से उस उस शरीर की अपर्याप्त अवस्था में उसका मिश्र काययोग होता है। विग्रहगति में कार्माण काययोग होता है।

मनुष्य और तिर्यंचों में औदारिक काययोग और औदारिक मिश्र काययोग होता है। देव और नारकी में वैक्रियिक काययोग और वैक्रियिक मिश्र काययोग होता है। आहारक शरीरधारी मुनि के आहारक और आहारक मिश्र काययोग होता है।

इसतरह मन के चार, वचन के चार और काय के सात कुल पंद्रह प्रकार के योग हमने देखे। पहले कर्म और नोकर्म का बंध किसप्रकार होता है उसके प्रकरण में हमने योग से प्रकृतिबंध और प्रदेशबंध होता है इस बात को विस्तार से समझा था।

अब वेदमार्गणा का स्वरूप देखेंगे।

(5) वेदमार्गणा :–

नामकर्म के उदय से पुरुष, स्त्री या नपुंसकरूप शरीर बनता है उसे `द्रव्यवेद' कहते हैं और परस्पर अभिलाषा युक्त मैथुनसंज्ञा का धारक जीव `भाववेद' वाला जीव है।

अधिकांश जीवों के समान वेद पाया जाता है अर्थात् जैसा द्रव्यवेद होता है वैसा ही भाववेद होता है। देव, नारकी और भोगभूमि के मनुष्य और तिर्यंचों के द्रव्य और भाव वेद समान होते हैं। द्रव्यपुरुषवेद होगा तो भावपुरुषवेद ही होता है। कर्मभूमि के मनुष्यों और तिर्यंचों में समान या असमान वेद हो सकते हैं।

वेदमार्गणा की अपेक्षा जीवों का विभाजन करने पर वेदसहित जीव और वेदरहित-अपगत वेदी-अवेदी जीव इसतरह दो भेद होते हैं। सवेदी जीवों के पुरुषवेदी, स्त्रीवेदी और नपुंसकवेदी तीन भेद होते हैं। 9 वें गुणस्थान में वेद का अभाव होता है तब तक के जीव सवेदी हैं, उसके पश्चात् अपगत वेदी हैं। यह भाववेद की अपेक्षा है। द्रव्यपुरुषवेदी जीव ही छठे या ऊपर के गुणस्थानों में जा सकते हैं, द्रव्यस्त्रीवेदी जीव 5 वें गुणस्थान तक ही जा सकते हैं, ऊपर नहीं।

एकेंद्रिय से चतुरिंद्रिय तक सभी जीव नपुंसकवेदी ही होते हैं। सभी नारकी जीव नपुंसकवेदी होते हैं। देवों में और भोगभूमि के मनुष्य और तिर्यंचों में स्त्री और पुरुष दो ही वेद होते हैं। कर्मभूमि के मनुष्य और तिर्यंचों में तीनों ही प्रकार के वेद पाये जाते हैं।

9 वें गुणस्थान के पांच भागों में से सवेद भाग तक वेद का सद्भाव रहता है। 9 वें के शेष भागोंवाले तथा 10 वें, 11 वें, 12 वें, 13 वें और 14 वें गुणस्थानवाले जीव अपगतवेदी हैं।

(6) कषायमार्गणा :–

कषायमार्गणा में सभी संसारी जीवों को हम पहले दो भागों में विभाजित करेंगे - कषायसहित और कषायरहित जीव। 10 वें गुणस्थान तक कषायसहित

जीव हैं और 11 वें, 12 वें, 13 वें और 14 वें गुणस्थान के जीव कषायरहित-पूर्ण वीतरागी हैं।

कषायसहित जीवों में भी क्रोधवाले, मानवाले, मायावाले और लोभवाले जीव इसप्रकार चार भेदों में विभाजन होता है। एकेंद्रियों से पंचेंद्रिय तक चारों ही प्रकार के कषाय पाये जाते हैं। 9 वें गुणस्थान में क्रमशः क्रोध, मान, माया का अभाव होकर लोभ कषाय शेष रहता है। 10 वें गुणस्थान में सूक्ष्मलोभ होता है और 10 वें के अंत में उसका भी अभाव होता है।

सामान्यतः कषाय शब्द का प्रयोग करते हैं। विशेष अपेक्षा उसके चार प्रकार - जातिभेद बताये हैं, वे इसप्रकार हैं - (1) अनंतानुबंधी (2) अप्रत्याख्यान (3) प्रत्याख्यान (4) संज्वलन। हर एक प्रकार में क्रोध, मान, माया और लोभ पाये जाते हैं। हर एक में मंद और तीव्र भेद भी पाये जाते हैं। अब उनका स्वरूप देखते हैं।

अनंतानुबंधी क्रोधादिक तत्त्वार्थश्रद्धानरूप सम्यक्त्व का घात करते हैं क्योंकि अनंत संसार का कारण जो मिथ्यात्व उसके साथ ये कषाय संबंध प्रस्थापित करते हैं।

अप्रत्याख्यान क्रोधादिक देशचारित्र का घात करते हैं। वे अल्प त्याग भी यानि अणुव्रत नहीं होने देते।

प्रत्याख्यान क्रोधादिक महाव्रतरूप सकल चारित्र का घात करते हैं और महाव्रत के परिणाम नहीं होने देते।

संज्वलन क्रोधादिक यथाख्यात चारित्ररूप पूर्ण वीतरागता नहीं होने देते। इन सभी कषायों के मंद-तीव्रता की अपेक्षा असंख्यात लोकप्रमाण भेद होते हैं।

(7) ज्ञानमार्गणा :–

अब ज्ञानमार्गणा का स्वरूप देखते हैं। क्या तुम कह सकती हो कि कुछ जीव ज्ञानसहित होंगे और कुछ ज्ञानरहित ? बिलकुल नहीं। सभी जीव ज्ञानसहित ही होते हैं। ज्ञान तो जीव का स्वभाव है। कोई भी पदार्थ कभी भी स्वभाव विरहित हो नहीं सकता।

ज्ञान की प्रकट पर्याय कौनसी है उसकी अपेक्षा से ज्ञानमार्गणा का विभाजन होगा। मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल पांच सम्यक् ज्ञान हैं और कुमति, कुश्रुत और विभंग तीन मिथ्याज्ञान हैं।

मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय क्षायोपशमिक ज्ञान हैं, केवलज्ञान क्षायिक ज्ञान है।

1 ले और 2 रे गुणस्थान में कुमति और कुश्रुत दो मिथ्याज्ञान होते हैं। कुअवधि यानि विभंगज्ञान भी इन जीवों के हो सकता है। इन दो गुणस्थानों के देव और नारकी जीवों को भवप्रत्यय कुअवधिज्ञान होता है। मनुष्य और तिर्यंचों में गुणप्रत्यय कुअवधिज्ञान होता है। एकेंद्रियों से असंज्ञी पंचेंद्रियों तक नियम से कुमति और कुश्रुत दो ही भेद पाये जाते हैं।

3 रे गुणस्थान में मिश्रज्ञान होते हैं।

4 थे से 12 वें गुणस्थान तक मति और श्रुत ज्ञान तथा किसी जीव के अवधिज्ञान होता है। 6 वें से 12 वें गुणस्थान वाले किसी मुनि के मनःपर्ययज्ञान भी होता है। इसतरह किसी मुनि के ऊपर बतायें हुअे चार ज्ञान, किसी के तीन ज्ञान और किसी के दो ज्ञान होते हैं।

13 वें, 14 वें गुणस्थान में केवलज्ञान होता है। यह पूर्ण विकसित क्षायिक ज्ञान है। उसका एक ही प्रकार है उसमें भेद नहीं पाये जाते। परंतु क्षायोपशमिक ज्ञान में विषयों की अपेक्षा तथा ज्ञान के क्षयोपशम की अपेक्षा अनेक भेद-प्रभेद पडते हैं। उनका विस्तृत वर्णन शास्त्रों में दिया हुआ है।

(8) संयममार्गणा :–

इसमें जीवों के सात भेद हैं। उसमें संयमविना असंयमी जीव, आंशिक संयम और आंशिक असंयम वाले संयमासंयमी जीव और संयमी जीव इसतरह तीन मुख्य भेद हैं। संयमी जीवों में भी पांच प्रकार के संयमी जीव हैं।

1 से 4 गुणस्थानवाले जीव असंयमी हैं।

5 वें गुणस्थानवाले जीव देशसंयमी यानि संयमासंयमी हैं।

6 वें से 14 वें गुणस्थानवाले जीव संयमी हैं।

सम्यक् प्रकार से यम अर्थात् नियम वह संयम है। 6 वें से 9 वें गुणस्थानों में सामायिक और छेदोपस्थापना संयम है। परिहारविशुद्धि संयम 6 वें और 7 वें गुणस्थान में पाया जाता है। 10 वें गुणस्थान में सूक्ष्मसाम्पराय नामक संयम होता है। 11 वें से 14 वें गुणस्थान तक यथाख्यातसंयम होता है।

इसतरह से आज हमने योगमार्गणा, वेदमार्गणा, कषायमार्गणा, ज्ञानमार्गणा और संयममार्गणा का स्वरूप देखा। शेष मार्गणाओं के बारे में आगामी पत्र में चर्चा करेंगे।

– तुम्हारी माँ

****

दर्शन, लेश्या, भव्य, सम्यक्त्व, संज्ञी, आहार मार्गणा और उपयोग प्ररूपणा

पत्रांक 19 ।। ॐ नमः सिध्देभ्यः ।। 3 अक्तूबर 1999

प्रिय रीना एवं मोना,

अनेक उत्तम शुभाशीर्वाद ।

चौदह मार्गणाओं में से आठ मार्गणाओं का स्वरूप हमने देखा । 9 वीं दर्शनमार्गणा है ।

(9) दर्शनमार्गणा :–

चेतना के ज्ञान और दर्शन दो भेद होते हैं । उनमें से जो दर्शन है उसकी अपेक्षा यानि दर्शन गुण की पर्याय की अपेक्षा दर्शनमार्गणा का विभाजन होता है । दर्शन शब्द का अर्थ `देखना' होता है । बाह्य पदार्थों के जाति, क्रिया, गुण, प्रकार आदि विशेष न करते हुअे स्वयं का और अन्य पदार्थों का केवल सामान्यरूप सत्तामात्र ग्रहण करना, सामान्य सत्तावलोकन करना `दर्शन' कहलाता है ।

शास्त्र में जहाँ सम्यग्दर्शन या मिथ्यादर्शन शब्द हम पढ़ते हैं, वहाँ दर्शन शब्द का अर्थ श्रद्धा होता है । वह अर्थ यहाँ नहीं लेना । दर्शन के चार भेद हैं - चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन । उनकी अपेक्षा से दर्शन मार्गणा में जीवों का विभाजन होता है ।

चक्षु अर्थात् नेत्रों द्वारा जो सामान्य ग्रहण अथवा चक्षु इंद्रिय के विषय का प्रकाशन `चक्षुदर्शन' है । नेत्रों के अलावा अन्य चार इंद्रियों और मन के विषयों का प्रकाशन `अचक्षुदर्शन' हे । परमाणु से लेकर महास्कंध पर्यंत के जो मूर्तिक द्रव्य, उनको `देखना' - `सत्तामात्र अवलोकन करना' `अवधिदर्शन' है । और लोक-अलोक के समस्त द्रव्यों को सत्तामात्र देखना, स्वपर सत्ता अवलोकन करना `केवलदर्शन' है ।

एकेंद्रियों से त्रींद्रियों तक मात्र अचक्षुदर्शन होता है क्योंकि उन्हें चक्षु इंद्रिय नहीं है । चतुरिंद्रियों और संज्ञी-असंज्ञी पंचेंद्रियों के चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन दोनों होते हैं । संज्ञी पंचेंद्रिय अवधिज्ञानी जीवों के अवधिदर्शन भी होता है । 13 वें और 14 वें गुणस्थान में अरहंतों के केवलदर्शन होता है। हम यहाँ मात्र संसारी जीवों का विभाजन देख रहे हैं इसलिए यहाँ सिध्दों को छोड़कर अन्य जीवोंसंबंधी कथन कर रहे हैं ।

(10) लेश्यामार्गणा :–

लेश्यामार्गणासंबंधी विवेचन करते समय पहले लेश्या क्या होती हैं? इसके बारे में विचार करेंगे । लेश्या दो प्रकार की हैं - द्रव्यलेश्या और भावलेश्या । शरीर के वर्ण को `द्रव्यलेश्या' कहते हैं । कषायों से अनुरंजित-रंगी हुअी योगों की प्रवृत्ति को `भावलेश्या' कहते हैं ।

मन, वचन और कायरूप योगों की जो प्रवृत्ति होती है वह कषायों से अनुरंजित होती है, उसे `लेश्या' कहते हैं । कर्म का बंध किस प्रकार होता है यह बात देखते समय हमने पढ़ा था कि योगों से प्रकृतिबंध और प्रदेशबंध होता है और कषायों से स्थितिबंध और अनुभागबंध होता है ।

कषायों का सद्भाव मात्र 10 वें गुणस्थान तक ही पाया जाता है । तो फिर उसके ऊपर के गुणस्थानों में लेश्या होगी या नहीं? ऐसा सवाल उठना स्वाभाविक है । कषाय नहीं होने पर भी केवल योगों का सद्भाव 11 वें, 12 वें और 13 वें गुणस्थान में होता है इसलिए वहाँ उपचार से - भूतपूर्व न्याय से लेश्या कही जाती है । 11 वें, 12 वें और 13वें गुणस्थान में उपचार से शुक्ललेश्या बतायी है । 14 वां गुणस्थान अयोगी गुणस्थान है, वहाँ तो योग भी नहीं है इसलिए उस गुणस्थान में लेश्या भी नहीं है ।

संक्लेश यानि तीव्र कषाय - अशुभ भाव और विशुद्धि यानि मंद कषाय-शुभभाव । संक्लेश से विशुद्धि तक कषायों के अनेक प्रकार पाये जाते हैं । उनसे युक्त लेश्या को छह नाम दिये हैं - (1) कृष्ण (2) नील (3) कपोत (4) पीत (तेजो) (5) पद्म (6) शुक्ल । इन सब के असंख्यात लोकप्रमाण भेद हैं । इनमें से कृष्ण, नील और कपोत अशुभ लेश्या हैं; पीत, पद्म और शुक्ल शुभलेश्या हैं ।

1 ले से 4 थे गुणस्थान तक छहों लेश्या पायी जाती हैं ।

5 वें से 7 वें गुणस्थान तक पीत, पद्म और शुक्ल तीन शुभलेश्या हैं। 8 वें से 13 वें गुणस्थान तक एक शुक्ल लेश्या होती है ।

दूसरे शब्दों में कहना हो तो तीन अशुभ लेश्या पहले चार गुणस्थानों में पायी जाती हैं । पीत और पद्म लेश्या 1 से 7 गुणस्थानों में होती हैं और शुक्ल लेश्या 1 से 13 गुणस्थानों में होती है । लेश्यारहित 14 वां गुणस्थान है ।

प्रत्येक लेश्या के जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट भेद करने पर लेश्या के अठारह अंश होते हैं, इनके अलावा आयुबंध के योग्य आठ मध्यम अंश होते हैं । इसप्रकार लेश्या के कुल 26 अंश शास्त्रों में बताये हैं ।

लेश्या के जो आठ मध्यम अंश हैं, वे अपकर्षकाल में संभवते हैं। आगामी भवसंबंधी आयु का बंध इस अपकर्षकाल में होता है। आयुबंध के योग्य परिणाम इस अपकर्षकाल में ही होते हैं ऐसा सहज निसर्ग नियम है। आयुबंध इन आठ अंशों के समय होता है परंतु मरण के समय अन्य कोई भी लेश्या हो सकती है। किस लेश्या के साथ मरनेवाला जीव कहाँ उत्पन्न होता है - कहाँ जन्म लेता है इस संबंधी विवक्षित नियम हैं। थोडे से अध्ययन के बाद कौनसे जीवों की कौनसी लेश्या होती हैं और कौनसी लेश्या में मरण होने पर जीव कहाँ जन्म लेता है आदि बातें हमारी समझ में आती है। अध्ययन और अभ्यास से कोई भी बात आसान हो जाती है, है ना?

(11) भव्यमार्गणा :–

इसमें संसारी जीवों के भव्य और अभव्य दो भेद पाये जाते हैं। भव्य शब्द का अर्थ है `होने योग्य'। अनंत चतुष्टयरूप स्वरूप की प्राप्ति होने की जिनमें शक्ति है, वे `भव्य' हैं। अर्थात् भव्य जीव रत्नत्रय - सम्यग्दर्शन - सम्यग्ज्ञान - सम्यक्चारित्र की प्राप्ति करके मुक्त हो सकते हैं। वैसी उनमें योग्यता पायी जाती है। जिन जीवों में ऐसी शक्ति-ऐसी योग्यता ही नहीं होती उन्हें `अभव्य' कहते हैं।

भव्य जीव भी दो प्रकार के पाये जाते हैं। कोई भव्य जीव ऐसे हैं कि मुक्त होने की योग्यता होने पर भी वे कभी मोक्षमार्ग प्रकट नहीं करते और मुक्त नहीं होते। वे अनंतानंत काल संसार में ही परिभ्रमण करते रहेंगे। अन्य जो भव्य हैं वे कालांतर से मुक्त होंगे।

मुक्त होने के पश्चात् इन जीवों को भव्य नहीं कहते, वे अभव्य भी तो हैं नहीं। भव्यत्व शक्ति की अभिव्यक्ति होने के कारण भव्य-अभव्य के पार ऐसे ये मुक्त जीव हैं। इनमें `जीवत्व' पारिणामिक शक्ति होती है।

तुम सोचोगी, `ऐसा भव्य-अभव्य विभाजन क्यों भला किया है ?' ये किसी ने किये तो है नहीं। जीव की यह सहज योग्यता है। इसलिए भव्यत्व और अभव्यत्व भी पारिणामिक भाव है किसी भी कर्म की किसी भी अवस्था के कारण यह तय नहीं होता।

मैं अभव्य तो नहीं हूँ ना? इसतरह का विचार करके गलितगात्र होने की भी आवश्यकता नहीं है। पुरुषार्थहीन व्यक्ति ही इसतरह के निराशाजनक विचार - निगेटिव्ह थिंकिंग करते हैं। पद्मनंदी आचार्य ने लिखा है कि आत्मा की चर्चा भी जो अत्यंत प्रीतिपूर्वक सुनता है वह निश्चित ही भव्य है और निकट भविष्य में मुक्ति का पात्र है।

तत्प्रति प्रीतिचित्तेन येन वार्ताऽपि हि श्रुता ।
निश्चितं स भवेत् भव्यो भावि निर्वाणभाजनम् ॥

1 ले गुणस्थान में भव्य और अभव्य दोनों प्रकार के जीव होते हैं । 2 रे से 14 वें गुणस्थान तक के जीव नियम से भव्य ही होते हैं ।

(12) सम्यक्त्वमार्गणा :–

यहाँ मात्र सम्यक्त्व की चर्चा नहीं है अपितु सम्यक्त्वमार्गणा की चर्चा है; सम्यक्त्व की अपेक्षा जीवों का विभाजन है । यहाँ जीवों के मुख्य दो भेद होंगे- सम्यक्त्वरहित जीव और सम्यक्त्वसहित जीव । सम्यक्त्वरहित जीवों में मिथ्यात्व, सासादन और मिश्र (सम्यग्मिथ्यात्व) वाले जीव ऐसे तीन भेद होते हैं । सम्यक्त्वसहित जीवों में औपशमिक सम्यक्त्ववाले, क्षायोपशमिक सम्यक्त्ववाले और क्षायिक सम्यक्त्ववाले जीव ऐसे तीन भेद होते हैं । इस प्रकार सम्यक्त्वमार्गणा में जीवों के छह भेद होते हैं ।

इनमें से पहिले तीन भेद अनुक्रम से पहले तीन गुणस्थानों में होते हैं। प्रथमोपशम सम्यक्त्वी जीव 4 थे से 7 वें गुणस्थान तक होते हैं । क्षायोपशमिक जीव 4 थे से 7 वें गुणस्थान तक होते हैं । क्षायिक सम्यक्त्वी जीव 4 थे से 14 वें गुणस्थान तक होते हैं । सिध्द भगवान भी क्षायिक सम्यग्दृष्टि हैं ।

द्वितीयोपशम सम्यक्त्वी जीव 4 थे से 11 वें गुणस्थान तक पाये जाते हैं क्योंकि उपशम श्रेणी चढ़कर 11 वें में से वापस लौटकर क्रम से 6 ठवें तक आकर वहाँ से नीचे 4 थे तक आ सकते हैं ।

(13) संज्ञीमार्गणा :–

संज्ञीमार्गणा के बारे में चर्चा करते समय प्रथम संज्ञी कहते किसे हैं ? उसकी चर्चा करेंगे । मन द्वारा जाननेवाले जीव यानि मन-ज्ञान सहित संज्ञी पंचेंद्रिय जीव संज्ञी हैं, मन द्वारा जानने की उघाडरूप शक्ति जिनके नहीं पायी जाती ऐसे मन-ज्ञानरहित जीव असंज्ञी हैं । एकेंद्रिय से असंज्ञी पंचेंद्रिय तक सभी जीव असंज्ञी हैं । इस मार्गणा का तीसरा भेद है, संज्ञी-असंज्ञीपना से रहित 13 वें और 14 वें गुणस्थानवर्ती अरहंत । अरहंत भगवान के द्रव्यमन तो होता है परंतु क्षयोपशम ज्ञानरूप भावमन उनके नहीं होता अर्थात् उनका जानना मन द्वारा नहीं होता क्योंकि उनके तो क्षायिक ज्ञान-केवलज्ञान प्रकट है ।

पहले हमने संज्ञा नाम की प्ररूपणा देखी थी और अब देख रहे हैं वह संज्ञीमार्गणा है । नामसदृशता के कारण तुम कुछ घोटाला न कर बैठे

इसलिए यह बात तुम्हारे निदर्शन में ला रही हूँ। जीवसमास में जब हमने संज्ञी-असंज्ञी कहा था, वहाँ मनसहित और मनरहित ऐसा सीधा अर्थ **किया** था। वहाँ तो अरहंत जीव भी जीवसमास की अपेक्षा संज्ञी कहलाते हैं।

संज्ञी अर्थात् मनसहित जीवों का लक्षण हमने पहले देखा था। मन द्वारा हित-अहित के ग्रहण-त्यागरूप शिक्षण, इच्छानुरूप हाथ पैर आदि की क्रिया, उपदेश का ग्रहण, स्मरण, याद आदि करनेवाले जीव-मनुष्य, हाथी, घोडे, कुत्ते, कई पंछी और प्राणी और देव, नारकी सभी संज्ञी जीव हैं। शेष एकेंद्रिय से असंज्ञी पंचेंद्रिय तक के सभी तिर्यंच असंज्ञी हैं।

(14) आहारमार्गणा :–

अब अंतिम आहारमार्गणा देखते हैं। जीव जो शरीररूप, वचनरूप और द्रव्यमनरूप होने योग्य नोकर्मवर्गणा का ग्रहण करता है उसे 'आहार' कहते हैं। हमने पहले छह प्रकार के आहार की चर्चा की थी। आहार नाम की संज्ञा भी तुम्हें याद होगी। आहार नामक वर्गणा से औदारिक, वैक्रियिक और आहारक तीन शरीर बनते हैं, यह भी हमने पढ़ा था। यहाँ आहारमार्गणा के प्रकरण में आहारक और अनाहारक इसतरह जीवों के दो भेद हैं। उनमें से नोकर्मवर्गणा को ग्रहण करनेवाले आहारक जीव हैं और जो नोकर्मवर्गणा का ग्रहण नहीं करते, वे अनाहारक जीव हैं। उपवास करना अनाहारक नहीं कहलाता।

अनाहारक जीव कौन हो सकते हैं उसे देखते हैं। पहले हमने विग्रहगतिसंबंधी विस्तृत चर्चा पत्रांक 3 में की थी। ऋजुगति से जानेवाले जीव उसी समय में आहार ग्रहण करते हैं, परंतु एक, दो या तीन मोडवाले विग्रहगति के जीव अनुक्रम से एक, दो या तीन समय तक अनाहारक रहते हैं और पश्चात् आहारक बन जाते हैं। प्रतर और लोकपूरण प्रकार का केवलिसमुद्घात करनेवाले जीव अनाहारक होते हैं। उसीप्रकार 14 वें गुणस्थान के अयोगीजिन भी अनाहारक होते हैं। सर्व सिध्द भगवान अनाहारक होते हैं यह बात बताने की तो जरूरत ही नहीं है। उपरोक्त अनाहारक जीवों के अतिरिक्त अन्य सभी जीव आहारक होते हैं।

अभी हमने समुद्घात शब्द ऊपर पढ़ा था उसका अर्थ देखते हैं। आत्मा के प्रदेश मूल शरीर को छोड़े बिना, कार्माण और तेजसरूप उत्तर शरीरसहित मूल शरीर से बाहर निकलते हैं और वापस मूल शरीर में पूर्ववत् आ जाते हैं, उसे 'समुद्घात' कहते हैं। सात भिन्न भिन्न प्रकार के

समुद्घात हो सकते हैं। वे निम्नानुसार हैं - (1) वेदना समुद्घात (2) कषाय समुद्घात (3) वैक्रियिक समुद्घात (4) मारणांतिक समुद्घात (5) तैजस् समुद्घात (6) आहारक समुद्घात और (7) केवली समुद्घात।

इसतरह चौदह मार्गणाओं का स्वरूप हमने देखा। अब बीस प्ररूपणाओं में से एक उपयोग प्ररूपणा शेष है, वह तो समझने में आसान है। ज्ञानमार्गणा के अनुसार जीव को जितने ज्ञान हो सकते हैं और दर्शनमार्गणा के अनुसार जितने दर्शन हो सकते हैं, उन दोनों को मिलाकर जीव के उपयोग कितने हैं उसकी संख्या बता सकते हैं।

हमने सभी संसारी जीवों का गुणस्थान, जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा, गति, इंद्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्य, सम्यक्त्व, संज्ञी, आहार और उपयोग इन बीस प्ररूपणाओं द्वारा वर्णन देखा। सिध्द भगवान गुणस्थानातीत हैं। उनके अलावा अन्य सभी जीवों का वर्णन हमने देखा। अब सिध्द जीवों में इन प्ररूपणाओं की चर्चा करेंगे।

सिध्दों के गुणस्थान नहीं है, जीवसमास नहीं है, पर्याप्ति नहीं, प्राण नहीं, संज्ञा नहीं, उनकी सिध्दगति है। उनके इंद्रिय नहीं, काय नहीं, योग नहीं, वेद नहीं, कषाय नहीं। उनके केवलज्ञान और केवलदर्शन है। परंतु संयम मार्गणा समान संयम नहीं है - वे संयमरहित हैं। संयम नहीं का अर्थ चारित्र नहीं ऐसा मत समझना। सिध्दों के तो क्षायिक चारित्र होता है।

सिध्दों के लेश्या नहीं, वे भव्य या अभव्य भी नहीं हैं। सम्यक्त्व में से उनके क्षायिक सम्यक्त्व है। वे संज्ञी या असंज्ञी नहीं हैं। वे अनाहारक हैं। उनके केवलज्ञान और केवलदर्शन मिलाकर दो उपयोग हैं।

बेटीयों, जीवसंबंधी यह सब जानकारी हमने बीस प्ररूपणाओं द्वारा देखी। यह सब संयोगों का, विभावों का, परद्रव्य सापेक्ष कथन है। जीवसंबंधी यह संपूर्ण जानकारी हमें केवलज्ञानी के दिव्यध्वनि द्वारा प्राप्त हुअी है - ज्ञात हुअी है। जिनवाणी का यह सम्पूर्ण कथन यथार्थ है। फिर भी जब हम मात्र जीवद्रव्य का विचार करते हैं तब संयोगों का यह सारा कथन व्यवहारनय का कथन है यह बात हमारे ख्याल में आती है। यह सब जानने से हमें जीव के स्वभाव, विभाव, संयोग, मोक्षमार्ग, मुनि, अरहंत, सिध्द का स्वरूप स्पष्टरूप से समझ में आता है। इससे भेदज्ञान की पुष्टी होती है और हमारा ज्ञान समीचीन होता है।

व्यवहारनय सम्यग्ज्ञान का अंश है। इसके बारे में यदि हमारी कोई भ्रांत कल्पनायें होगी तो उस विपरीत ज्ञान के साथ हमें आत्मा का ज्ञान अर्थात् आत्मानुभव नहीं हो सकता।

जिनवाणी अगाध है, अमृतमय अध्यात्मरस से ओतप्रोत भरी हुअी है। हम जितना गहरा अध्ययन करेंगे उतना ही उसका रस और आनंद बढ़ता जाता है। करणानुयोग के अध्ययन में मेरा भी अभी प्रवेश ही हुआ है, अध्ययन शुरू हुआ है। तुम दोनों तथा अन्य अनेक वाचकों के निमित्त से करणानुयोग का परिचय तुम्हें कराते समय मेरा भी तत्त्वचिंतन होता रहा, स्वसन्मुखता एवं भेदज्ञान में बल मिलता रहा।

पं. टोडरमलजी ने सम्यग्ज्ञानचंद्रिका के पीठिका में लिखा है कि, ``उच्चकुल, पूर्ण आयु, इंद्रियों का सामर्थ्य, निरोगीपना, सुसंगति, धर्मरूप अभिप्राय, बुध्दि की प्रबलता आदि का मिलना उत्तरोत्तर महादुर्लभ है। सो प्रत्यक्ष देखते हैं। इतनी साधनसामग्री मिले बिना ग्रंथाभ्यास बनता नहीं। तुमने भाग्य से यह अवसर पाया है। इसलिए तुम्हें हठ करके भी तुम्हारे हित के अर्थ प्रेरणा देते हैं। जैसे बने तैसे इस शास्त्र का अभ्यास करो। अन्य जीवों को जैसे बने तैसे शास्त्राभ्यास कराओ। जो जीव शास्त्राभ्यास करते हैं उनकी अनुमोदना करो। पुस्तक लिखवाना, पढ़ने-पढ़ानेवालों की स्थिरता करनी आदि शास्त्राभ्यासों के बाह्य कारण तिनका साधन करना। क्योंकि इनसे भी परंपरा कार्यसिद्धि होती है या महत्पुण्य उपजता है।''

पं. टोडरमलजी की सलाह ध्यान में रखकर तुम भी नित्य नियम से शास्त्रस्वाध्याय, चिंतन, मनन, करती रहो और स्वसन्मुखतापूर्वक आत्मानुभव करके भेदज्ञान करती रहो, ऐसी मेरी इच्छा है। और तुम वैसा करोगी ही इस बात का मुझे विश्वास है।

कल्याणमस्तु -

– तुम्हारी माँ

****

ॐ